
पुस्तक
मन्थन का नवनीत
(युवाचार्य श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों का सकलन)


प्रथम सस्करण : 1998 ई. , वि.स. 2055, वीर स. 2524, 2100 प्रतियां


मूल्य : 7/- रुपये


अर्थ सहयोगी : सुखानी राधा चन्दन चेरिटेबल ट्रस्ट


सम्पादक
इन्दरचन्द बैद


प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ
बीकानेर-334005


मुद्रक
अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स,
भुजिया बाजार, बीकानेर

प्रकाशकीय

'समता सौरभ' (त्रैमासिक) के यशस्वी सम्पादक श्री इन्दरचन्द बैद द्वारा सम्पादित युवाचार्य श्री रामलाल जी म.सा. द्वारा विभिन्न अवसरों पर दिये गये पन्द्रह प्रवचनों का यह सकलन जन साधारण के हितार्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

युवाचार्य प्रवर शास्त्रों के गभीर ज्ञाता तथा अनोखी प्रतिभा से सम्पन्न दिव्य पुरुष हैं। अपने उत्तराधिकारी पट्टधर के रूप में उनकी नियुक्ति कर युगाचार्य 1008 श्री नानालालजी म सा. ने समाज को एक अनमोल रत्न सौंपा है। ऐसे सत रत्न की वाणी सभी के लिये, सर्वत्र, सदैव प्रेरणा-स्रोत के रूप में उपलब्ध रहे, इस उद्देश्य से आचार्य श्री जी के परम भक्त तथा सघ धर्म के प्रबल समर्थक युवा उद्यमी श्री इन्दरचन्द बैद द्वारा किया गया यह सारस्वत प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है।

प्रेरणादायी सत-साहित्य की अभिवृद्धि में यह रचना अपनी तरह से योग देगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

भवदीय

गुमानमल चोरडिया — अध्यक्ष/ सयोजक
सागरमल चपलोत — महामन्त्री
इन्द्रचन्द बैद — सह–सयोजक

भंवरलाल कोठारी **चम्पालाल डागा**
उपाध्यक्ष

सरदारमल काकरिया केशरीचन्द सेठिया मोहनलाल मूथा
नेमीचन्द तातेड कमल सिपानी सायरचन्द छल्लानी
डॉ सजीव भानावत

(सदस्यगण, साहित्य समिति, श्री अ.भा साधुमार्गी जैन सघ)

प्राक्कथन

हुक्मसंघ के नवमें पट्टधर परम पूज्य श्री रामलालजी म.सा. अनुपम प्रतिभा के धनी हैं। अध्यात्म, दर्शन, धर्म एव आगम साहित्य में अपनी अनोखी पैठ है। अपने प्रवचनों में वे गहन आध्यात्मिक ज्ञान को सरस, सहज एव प्रभावी शैली में अभिव्यक्ति देने में वे सिद्धहस्त हैं। यही कारण है कि उनके प्रवचन आबालवृद्ध नर-नारी सभी के लिये गहन प्रेरणा का स्रोत बन जाते हैं। ऐसे प्रवचन साहित्य की निधि बन कर सब-कहीं, सभी के हेतु उपलब्ध रहें इसी उद्देश्य से यह सकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रवचनों को निबंध-शैली में ढालने के लिये उसमें कुछ शैलीगत परिवर्तन अपेक्षित थे उनसे बचा नहीं जा सका है तथापि यह ध्यान रखा गया है कि वस्तु का सत्य अक्षुण्ण बना रहे । फिर भी मुझ जैसे अल्प ज्ञानी द्वारा संतों की गूढ़ वाणी को समझने एवं उसके प्रस्तुतीकरण में, सम्पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी के उपरान्त भी भूलें हो जाने की सभावना तो है ही इसलिये अपनी ऐसी अज्ञानजनित भूलों के लिये युवाचार्य श्री जी से क्षमा मांगता हुआ, मैं यह संकलन कोटि-कोटि जनों के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है सुधी पाठक मेरी भावनाओं को समझते हुए इस संकलन को इसी रूप में स्वीकार करेंगे।

संत-सती जनों द्वारा हम पर असीम उपकार किये जाते हैं अतः यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम यह भी सुनिश्चित करें कि उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रहे। धर्म-विरोधी एवं गुरु-द्रोही प्रवृत्तियां सभी देशों एव सभी कालों में विद्यमान रही हैं। यह काल भी इस दृष्टि से अपवाद नहीं है। अतः यह भी अपेक्षित है कि धर्मानुशासन को दृढता एवं कठोरता पूर्वक लागू करने की दिशा में भी हम सक्रिय् रहें। यह सत-सती वर्ग के प्रति अटूट निष्ठा द्वारा ही संभव है। यह निष्ठा उत्तरोतर बढती रहे इस हेतु पाठकों के लाभार्थ संघ धर्म एवं गुरु महिमा से संबंधित एक लेख भी प्रारंभ में संकलित कर दिया गया है। मेरी भावनाओं को यह अधिक सफलता पूर्वक अभिव्यक्ति दे सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

अन्त में युवाचार्य श्री जी से प्राप्त धर्म-ज्ञान के लिये मैं उनके प्रति श्रद्धा एवं विनय पूर्वक नत मस्तक होता हूं।

भीलवाड़ा — इन्दरचन्द बैद

अर्थ-सहयोगी परिचय

प्रस्तुत कृति का प्रकाशन बीकानेर के श्री चन्दनमल जी सुखानी (हाल मुकाम-सुखानी प्लास्टिक इन्डस्ट्रीज, सुखानी भवन 259, चितरन्जन एवेन्यू, कलकत्ता-7) के अर्थ सौजन्य से हुआ है। 75 वर्षीय श्री सुखानी जी गुरुदेव के प्रति अटूट आस्थावान, अनन्य धर्म परायण व अनुपम सघ-शासननिष्ठ हैं। अथक श्रम, लगन व अध्यवसाय से अर्थोपार्जन करके भी आपने सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, लोकोपकारी सस्थाओं को मुक्त हस्त से उदारतापूर्वक दान दिया है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती राधारानी यथार्थ में सहधर्मिणी है जिनकी सत्कार्यों में सहयोग की भावना बनी रहती है।

अपने पितृश्री श्री अबीरचन्द जी एव मातुश्री श्रीमती रूपा बाई से विरासत में प्राप्त गुरुनिष्ठा व सेवा के सस्कारों को आपने सदैव वृद्धिगत रखा है। आपने तीन लाख रुपये की लागत से साधुमार्गी जैन सेवा समिति, बीकानेर में एक सभागार निर्मित करवाया और अपनी माताजी की स्मृति में सेवा सदन में एक कमरे का निर्माण भी करवाया।

बीकानेर में पॉच लाख रुपये की राशि से 'सुखानी राधा चन्दन चेरिटेबल ट्रूस्ट' की स्थापना कर ट्रूस्ट के माध्यम से पी बी.एम हास्पिटल, जैन आदर्श सेवा सस्थान नोखा, साधुमार्गी जैन श्रावक सघ-फारविशगज, जैन कन्या पाठशाला, गौ सेवा सघ जयपुर, साधुमार्गी जैन श्रावक सघ बीकानेर आदि सस्थाओं को आपने प्रभूत राशि प्रदान की है।

आपने कानोड़, उदयपुर, कोटा, शिखरजी, कलकत्ता आदि श्री संघों में भी भवन/कक्ष निर्माणार्थ अर्थ सहयोग दिया है। अपने घर आये किसी भी सघ/व्यक्ति को आप निराश नहीं करते। अब तक आपने लगभग पन्द्रह लाख रुपये की राशि दान में दी है।

आपके पाच भाई व तीन बहिनें थीं– अभी तीन भाई व दो बहिनें हैं। पूरा परिवार जैन धर्म की प्रभावना एव संघनिष्ठा हेतु आदर्श है। आपकी भानजी ने नानेश शासन में दीक्षा अगीकृत की है और महासती श्री महिमा श्री जी नाम से ज्ञात हैं।

श्री सुखानी जी ने पूर्व में 'आगम सार' पुस्तक का प्रकाशन कराया था और अब युवाचार्य श्री जी की प्रथम कृति को प्रकाशित करने का लाभ लिया है।

'बीकानेर श्री संघ' सुखानी जी जैसे कर्मवीर एव दानवीर से गौरवान्वित है।

– भंवरलाल कोठारी

अध्यक्ष

राजस्थान गौ सेवा आयोग

अनुक्रमणिका

समर्पण

जिन आचार्य भगवन ने
सद्ध धर्म के प्रचार प्रसार हेतु
अविरल, अथक प्रयास किये हैं,
'युवाचार्य श्री राम'
के रूप में एक तेजस्वी विभूति
प्रेरणा स्त्रोत के रूप में प्रदान कर
चतुर्विध सघ का
असीम उपकार किया है,
तथा
'समता समाज'
की स्थापना का उद्घोष कर
'संस्कार क्रान्ति' का
अनोखा मार्ग प्रशस्त किया है,
उन्हीं
युग प्रवर्तक, संत शिरोमणी
'1008 श्री नानालाल जी म.सा.'
के कर कमलों में
आदर, विनय, श्रद्धापूर्वक
समर्पित।

—इन्दरचन्द बैद

भूमिका

संघ-धर्म एवं गुरु-महिमा

इन्दरचंद बैद

आचार्य, युवाचार्य एव सत-सती वर्ग की धर्मप्रभावना की दृष्टि से अपार महिमा है। अपने व्यक्तित्व, चरित्र एव प्रवचनों द्वारा वे श्रावक-श्राविकाओं के धर्माचरण की प्रेरणा तो प्रदान करते ही हैं, सघ धर्म की रक्षा हेतु उचित एव प्रभावी वातावरण का निर्माण भी करते हैं। श्री जवाहराचार्य ने इसी सघ-धर्म को जैन धर्म रूपी विशाल प्रासाद का जीवन–स्तभ बताया है और कहा है कि जैसे धर्मी के बिना धर्म नहीं टिक सकता वैसे ही सघ-धर्म के बिना जैन धर्म नहीं टिक सकता।[1] नीतिकार भी सघ शक्ति की महत्ता को स्वीकार कर उस पर बहुत जोर देते हैं। *'सहतिः श्रेयसी,'* अर्थात् संघ शक्ति कल्याणकारी है। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि व्यक्ति अपने आप में निर्बल, अक्षम और तुच्छ है। ऐसी निर्बल, अक्षम और तुच्छ इकाई, सगठन करके सघ बल का निर्माण करती है और सफल होती है। नीतिकार ने कहा है–

अल्पानामपि वस्तुनां सहति. कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणतवमापन्नै-र्बध्यन्ते मत्तदन्तिन .॥

तिनके जैसी तुच्छ वस्तु को एकत्र किया जाय तो उससे अत्यत मदोन्मत्त हाथी भी बॉधे जा सकते हैं। इसी प्रकार विविध रूपों में बिखरी मानवचेतना को एकत्र कर सघ व्यवस्था उसे स्पृहणीय शक्ति बना देती है। सघ शासन की इसी अपरिहार्यता को समझकर भगवान् महावीर ने जगत् के कल्याणार्थ सघ-शासन की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया था। सघ यदि धर्म-रथ को आगे

---

1 *धर्म और धर्मनायक-सघ धर्म (अध्याय 7)*

बढ़ाने का कार्य करता है तो साधु-साध्वी एव श्रावक-श्रावकी उस रथ के दो चक्रों का दायित्व सभालते हैं। इस धर्म रथ पर आरूढ होकर समाज, अनुशासनपूर्ण आचरण करता हुआ, ससार की भीषण अटवी के पार जा सकता है। इस प्रकार लौकिक ओर लोकोत्तर धर्म की साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। सघ की रक्षा से धर्म की रक्षा होती है और जब धर्म रक्षित रहता है तब मनुष्य की भी रक्षा होती है। मनुस्मृति में भी कहा गया है–

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मोहतोऽवधीत ॥

अर्थात् जो मनुष्य धर्म का नाश करता है, धर्म उसका नाश करता है और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। धर्म हमारा नाश न करे इसलिये हमें धर्म का नाश नहीं करना चाहिये। इस प्रकार धर्म की रक्षा के लिए ही सघ-सगठन का निर्माण होता है। गौतम बुद्ध ने भी अपने एक उपदेश में कहा था–

'एक धम्मो भिक्खवे ! लोके उपज्जमानो उपज्ञति बहुजन हिताय बहुजन सुखाय-बहुजनस्य अत्थाय सुखाय देव मनुस्सान।'

अर्थात्–हे भिक्षुओं ! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे सिद्ध करने से बहुत लोगों का कल्याण, बहुत लोगों का सुख तथा देव और मनुष्य सहित, बहुत लोगों का कल्याण, सुख और इच्छित अर्थ सिद्ध होता है।

यह पूछा जाने पर कि 'वह धर्म कौनसा है ?' उन्होंने उत्तर दिया था–

'संघस्य सामग्गी'

अर्थात्–सघ का सगठन।

संघभेद के दुष्परिणाम के संबंध में उन्होंने कहा था कि एक धर्म ऐसा है कि जिसे उत्पन्न करने से बहुत लोगों का अकल्याण, बहुत लोगों का अहित और देव-मनुष्य सहित बहुतों का अनर्थ होता है। यह पूछे जाने पर कि 'वह कौनसा धर्म है', उन्होंने उत्तर दिया था–'सघ भेदो।'

इस सघभेद के सवंध मे उन्होंने स्पष्ट किया था कि सघ में फूट डालने वाला अधर्मी नरक में निवास करता है तथा निर्वाण से विमुख होता है। सघ की रक्षा को जैन धर्म भी अनिवार्य मानता है इसीलिए गच्छ से अलग होने वाले साधु के

आचरण की कठोरतम शब्दों में भर्त्सना की गई है। ऐसे स्वच्छदाचारियों के सबध में कहा गया है कि वे अभिमान से ग्रस्त हो जाते हैं, उनकी आत्मा पर वृत्तियों का वेग विजयी बन जाता है जिसके फलस्वरूप उनका वैराग्य, सयम और जिज्ञासा, सब अकारथ हो जाते हैं। उनमें सकुचितता आ जाती है और अहवृत्ति पैदा हो जाती है.....ज्यों-ज्यों अहकार बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उनका अभिमान पर्वत पर चढ़ता जाता है लेकिन यह नहीं जानता कि गिरने पर मैं चकनाचूर हो जाऊँगा। मिथ्याभिमान से ग्रस्त ऐसा व्यक्ति अनुशासन दिये जाने पर विचारता है कि *'मै जाति, कुल, बल, ज्ञान आदि से उन्नत हूँ, मेरा भी गुरु तिरस्कार करते हैं !'* यों वह अपनी मूढ़ता से गच्छ के बाहर निकल जाता है। गच्छ से बाहर निकलने पर किसी ऐरे-गैरे व्यक्ति ने उनकी तारीफ कर दी कि यह उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, सुन्दर रूप वाले हैं, बोलने में बड़े कुशल हैं, सौभाग्यशाली हैं, इस प्रकार झूठी तारीफ सुनकर वह गर्व से फूल उठता है और चरित्र मोह के द्वारा विवेकशून्य बनता है। जिस प्रकार समुद्र से निकली हुई मछली विनाश को प्राप्त करती है उसी तरह गच्छ से निकला हुआ स्वच्छन्दाचारी भी भयकर दुःखों को प्राप्त करता है।[1]

सघ की महिमा के कारण ही उसे धर्म का शरीर भी कहा जाता है। इस प्रकार सघ अनुशासन से अभिप्राय हुआ शरीर के विभिन्न अवयवों का एक दूसरे के साथ सहयोग करना तथा स्वय स्वस्थ, पुष्ट एव विकासशील बने रहना। यदि यह परस्पर सहयोग किसी भी कारण से शिथिल होता है तो सम्पूर्ण शरीर प्रभावित हो जाता है। इसीलिए सगठन प्रथम वस्तु है। अगर सघ शरीर के लिए सर्वस्व का भी त्याग करना पड़े तो उसमें सकोच नहीं होना चाहिए। इसी आवश्यकता से सघ की एकता के पवित्र कार्य में बाधा डालने वाला घोर पाप का भागी माना जाता है। इस सबध में श्री जवाहराचार्य का कथन है–

'भगवान् ने सघ में अनेकता उत्पन्न करना सबसे बड़ा पाप बताया है। इस पाप की तुलना में अन्य सब पाप छोटे हैं। चतुर्थ व्रत खण्डित होने पर नवीन दीक्षा देकर साधु को शुद्ध किया जा सकता है लेकिन सघ की शाति और एकता भग करके अशाति और अनैक्य फैलाने वाला, सघ को छिन्न-भिन्न करने वाला, दसवें प्रायश्चित्त का अधिकारी माना गया है। जो लोग अपना वडप्पन कायम करने के लिए, दुराग्रह करके सघ में विग्रह उत्पन्न करते हैं, वे घोर पाप करते हैं।'[2]

---

1. आचाराग सूत्रम् विवेचन, 5/4
2. श्री जवाहर किरणावली (किरण 39) पृष्ठ 234

सघ-धर्म और सघानुशासन पर श्री जवाहराचार्य ने व्यापक रूप से चिन्तन कर जो मार्गदर्शन प्रदान किया है वह लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही हितों का साधन

करने वाला है। उनके अनुसार सघ का अर्थ है– व्यक्तियों का समूह तथा सघ-धर्म से अभिप्राय है–व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर समष्टि के हित और श्रेय के लिए बनाये गये नियमोपनियम। इन नियमों की पालना सघ के प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी जवाबदेही भुला देता है और स्वार्थवश सघ-धर्म को भग करता है वह सघ-धर्म का नाशक कहलाता है। वह अपना भीषण अहित करता है परन्तु जो सघ का श्रेय साधन करता है, सघ भी उसका श्रेय साधन करता है। जिस प्रकार श्रावक-श्राविकाओं के लिए नियम-विधान हैं उसी प्रकार साधु-साध्वियों के लिए भी हैं। इन नियम-विधानों का एक ही उद्देश्य है– संघ की एकता की रक्षा करना। इसलिए यदि कोई साधु शास्त्र में पारंगत होने के बाद सम्प्रदाय के बधनों को विकास में बाधक समझ कर सम्प्रदाय से जुदा हो जाय और स्वेच्छा से कार्य करने लगे और आचार्य भी उसे अविनीत जानकर छोड़ दें, फिर भी अगर श्रावक उसकी सहायता करते रहें और सम्प्रदाय की मर्यादा स्वीकार न करने पर भी उसे पूजते रहें तो क्या वह साधु अपने आचार्य की परवाह करेगा ? जिस साधु को आज्ञा से बाहर कर दिया गया है उसे तुम लोग पूजते रहो तो यह आचार्य पद का मूलोच्छेदन करने के समान है या नहीं ?'[1]

श्री जवाहराचार्य का उपर्युक्त निर्देश सघ धर्म की रक्षा एव उसकी महत्ता को भली प्रकार स्पष्ट कर देता है। उन्होंने चेतावनी दी थी–*'अगर तुम बहिष्कृत शिष्य की सहायता करते रहोगे तो एक दिन सब स्वतंत्र होकर कहने लगेंगे– 'साम्प्रदायिक बधनों की आवश्यकता नहीं है। इस स्थिति में कौन शिष्य आचार्य की आज्ञा में रहना पसद करेगा।'*[1]

धर्म संघ का महत्त्व कितना अधिक है यह भद्रबाहु स्वामी के जीवन की एक घटना से स्पष्ट किया जा सकता है। एक बार जब वे एकान्त में योग-साधना कर रहे थे तब सघ में विग्रह हो गया जिसके निपटारे के लिए संघ ने उन्हें सदेश भेजा। भद्रबाहु स्वामी ने उत्तर भिजवा दिया कि मैं योग-साधना में तल्लीन हूँ जिसे छोड़कर नहीं आ सकता, साधना पूर्ण होने के पश्चात आऊंगा। स्वयं के कल्याण

---

1. धर्म और धर्मनायक (श्री जवाहर किरणावली :किरण 13) अध्याय 7, सघधर्म
2. श्री आचारांगसूत्रम, प्रथम श्रुतस्कंध, पचमोदेशक।

के पीछे समस्त सघ की उपेक्षा के इस उत्तर से सघ स्तब्ध रह गया। उसने फिर सदेश भेजा–'महाराज, योग-साधना करके अकेले अपना कल्याण श्रेष्ठ है अथवा समस्त सघ में फैले हुए विग्रह को शान्त करना ?' सघ के इस प्रश्न ने भद्रबाहु स्वामी के चक्षु खोल दिये। वे तुरन्त अपना अभिग्रह अपूर्ण छोड कर संघ के पास आये और क्षमा याचना करते हुए स्वीकार किया कि 'मेरी योग-साधना की अपेक्षा सघ का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।'

सघशक्ति लोकशक्ति है और लोकशक्ति को धर्म की जननी माना जाता है इसीलिये सघ शक्ति का महत्त्व समझने वाले सघ को 'अम्मापिया' अर्थात् माता-पिता के समान पूज्य मानते हैं। इस प्रकार सघ-पूजा सच्ची धर्म-पूजा है, सघ-शक्ति धर्म-शक्ति है और धर्म शक्ति वास्तविक जीवनी शक्ति है।

आचार्य की महिमा इसीलिये है कि वह सघ शक्ति की धुरी होता है। इसीलिए
उसकी महिमा का विषद विवेचन *श्री आचारागसूत्रम्* में भी किया गया है। वहाँ कथन है–

'से बेमि तजहा अवि हटए पडिपुण्णे समसि भोमे चिट्ठइ उवसतरए सारक्खमाणे से चिट्ठइ सोयम ज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते पास लोए महेसिणो...... ..'

सूत्रकार का अभिप्राय है कि 'जैसे किसी समतल भूमि पर निर्मल जल से भरा हुआ सरोवर होता है उसी तरह आचार्यादि महर्षि साधक रूपी ज्ञान जल से भरे हुए निर्दोष क्षेत्रों में रहकर, काषायादि को उपशात करके जीवों की रक्षा करते हुए, ज्ञान रूपी प्रवाह को बहाते हुए, इन्द्रियादि के गोपन से सुरक्षित होते हैं।' इसीलिए पचम अध्ययन के षष्ठ्म उद्देश्य में कहा गया है–

जो गुरु की दृष्टि से देखता है, गुरु के द्वारा कही हुई निरासक्ति का पालन करता है, गुरु को सर्वत्र प्रधानता देता है, गुरु पर सम्पूर्ण श्रद्धा रखता है, वह परीषह-उपसर्गों अथवा ज्ञानवरणीयादि कर्मों पर विजय प्राप्त करके तत्त्वदर्शी आत्मद्रष्टा बनता है।

इस प्रकार गुरु की अवहेलना, उसकी आज्ञा का उल्लघन अथवा 'अहं' की पूर्ति हेतु गुरु-द्रोह किसी भी स्थिति में क्षम्य नहीं। साधु द्वारा इस प्रकार की अवज्ञा

---

1. धर्म और धर्मनायक (श्री जवाहर किरणावली : किरण 13) अध्याय 7, संघधर्म

घोरतम पाप की श्रेणी में परिगणित होती है क्योंकि वह दीक्षा लेते समय गुरु के सम्मुख प्रतिज्ञा करता है–

करेमि भते । समाइय साध्व जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतपि अन्न न समणुजाणामि तस्य भते। पडिक्कमामि निदामि गारिआमि अप्पाण वोसिरामि।

वैसे भी जब साधु द्वारा पॉच महाव्रतों का पालन करने का सकल्प ले लिया जाता है तब धर्म के अन्य व्रतों की पालना स्वतः ही आवश्यक हो जाती है। शास्त्रों मे धर्म के दस लक्षण बताए गये हैं– धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धैर्य, विद्या, सत्य और अक्रोध। गृहस्थ के लिए यदि इन्हे धारण करना अपेक्षित है तो साधुओ के लिए तो आवश्यक ही है। इसीलिये गुरुद्रोह, सघ–द्रोह एव धर्म-द्रोह की कोटि का ही अपराध माना गया है। ऐसा अपराध करने वाले साधुओं को शिथिलाचारी की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। श्री हरिभद्र सूरी जी ने *'आवश्यक'* में ऐसे साधुओं की सगति त्यागने के विषय में तो यहाँ तक लिखा है– *'जो शुद्धाचारी होकर शिथिलाचारियो की सगति करे तो वह शुद्धाचारी भी वदनीय नहीं रहता।' स्थानाग सूत्र* में उन स्थितियों की चर्चा भी की गई है जो विपरीत आचरण मानी गई हैं। ये हैं–

1. सयम में दोष लगावे।
2. दोष लगाकर भी जो गुरु से छुपावे और उनके सामने आलोचना नहीं करे।
3. यदि आलोचना कर ले तो गुरु के दिए प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करे।
4. यदि प्रायश्चित्त अगीकार भी करले तो उसका पालन नहीं करे ।
5. स्थविर कल्पी मुनिवरो के स्थिति आदि कल्प का उल्लघन करके अनाचार का सेवन करे और मन में साहसी होकर सोचे कि *'मैंने अकार्य कर भी लिया तो स्थविर मेरा क्या करेंगे। (ठाणाग 5-1)*

इनके अतिरिक्त आचार्य के विरुद्ध चलने वाले को, उपाध्याय का विरोध करने वाले को, स्थविरों से शत्रुता का व्यवहार करने वाले को, सघ के शत्रु को, तथा ऐसे ही विपरीत आचरण करने वालों को प्रत्यनीक शत्रु कहा गया है तथा उन्हें विसाभोगिक बनाकर उनसे संबंध-विच्छेद कर लेने का निर्देश दिया गया है। *(ठाणाग-9)*

ऐसी कठोर व्यवस्था संघ में अनुशासन बनाये रखने की दृष्टि से आवश्यक

है क्योंकि जहाँ सतों के शिथिलाचार से निपटने के लिए कठोर दण्ड की परम्परा होती है वहाँ सघ के अन्य अवयव, जिनमें श्रावक-श्राविकाएँ भी सम्मिलित हैं, स्वतः ही अनुशासन में रहते हैं महाकवि तुलसीदासजी ने *'भय बिन होय न प्रीति'* की जो बात लोकव्यवहार के सदर्भ में कही थी वह धर्माचरण और सघ-ऐक्य पर भी पूरी तरह लागू होती है क्योंकि लोकव्यवहार में आचार-शैथिल्य का प्रभाव सीमित ही पडता है तथा उसके परिहार के अन्य उपाय भी हैं जब कि धर्म की अनुपालना में यदि कठोरता न रखी जाय तो सम्पूर्ण धर्म व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाने का सकट उत्पन्न हो जाता है। धर्मानुशासन पूरी कठोरता से लागू किया जाय जिससे धर्म की रक्षा हो सके। यह देखना जितना आवश्यक आचार्य के लिये है उतना ही धर्म में आस्था रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी है क्योंकि सघ और धर्म की रक्षा का दायित्व उसका भी होता है।



प्रार्थना की महिमा

प्रार्थना मानव-हृदय की एक सहज प्रतिक्रिया है जिसके बोल अथवा शब्द भाषा की दृष्टि से भिन्न रूपों में उभर कर सम्मुख आ सकते हैं। इस प्रकार लोगस्स का पाठ भी तीर्थंकर देवों की प्रार्थना है भले ही वह प्राकृत भाषा में हो। स्वय आर्य सुधर्मा स्वामी ने प्रभु महावीर की स्तुति की थी जो *सूत्र कृतागसूत्र* में *पुच्छिस्सुण* के नाम से सगृहीत है। युग परिवर्तन के साथ भाषा बदलती है इसीलिये पूर्व के संस्कृत भाषा के युग में संस्कृत भाषा में प्रार्थनाए आबद्ध हैं। *भक्तामर स्तोत्रम* तीर्थंकर देवों के प्रति प्रार्थना ही है। प्रार्थना का सीधा सबंध भावना से होता है इस कारण वह सदा बोलचाल की भाषा में होती है। साहित्यिक प्रार्थनाए कला के उद्देश्य को ध्यान में रख कर रची जाती हैं इस कारण उनका स्वरूप भिन्न हो सकता है तथापि मानव-मन उद्वेलित करने की क्षमता उनमें सदैव विद्यमान रहती है। फिर भी दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा में की गई प्रार्थना साधक के भावों को सही अभिव्यक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिये प्रार्थना चाहे किसी भी भाषा अथवा शैली में हो, उसकी सार्थकता निर्विवाद है।

परन्तु प्रार्थना क्यों की जानी चाहिए ? प्रार्थना के पीछे क्या उद्देश्य होता है ? हम किसलिये प्रार्थना करते हैं ? ये कतिपय मन को झकझोरने वाले प्रश्न हैं। मोटे तौर पर प्रार्थना का अर्थ होता है– याचना। इस प्रकार यदि हम सिद्ध भगवान के स्वरूप को जानते हैं, अरिहत देवों के स्वरूप का यदि हमें ज्ञान है और उनमें हमारी आस्था है तो हम उनसे याचना करते हैं। सिद्ध भगवान को हमने कभी देखा नहीं, उसके उपरान्त भी हम उनकी प्रार्थना करते हैं। इससे यह सिद्ध होता

है कि हम उनसे याचना नहीं करते क्योंकि याचना सामने होती है, जो प्रकट एव प्रस्तुत है, उससे होती है, अरिहन्त देवों के प्रति प्रार्थना में ऐसा कुछ नहीं है।

प्रार्थना में शब्द ही होते हैं जो भिन्न-भिन्न रूपों में अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं। अभिधा में प्रयुक्त एक शब्द जो लक्षणा में नया अर्थ देता है, व्यजनात्मक प्रयोग मे सर्वथा भिन्न अर्थ दे सकता है। कबीर जैसे संतों के ऐसे अनेक पद मिलेंगे जिनमें बात सीधे रूप में नहीं कही गई है। उदाहरणार्थ कबीर की उलट बासिया अथवा यह पक्ति *'उल्टी गगा समुदहो सोखे......'* । 'गगा आदि नदियों का प्रवाह समुद्र की ओर होता है। यदि कथा के मर्म को न समझा जाय तो यह पक्ति एक पागल का प्रलाप लगती है। परन्तु जब अलमस्ती का आलम होता है, अतर अनुभूति से आप्लावित हो जाता है तब जो शब्द वाणी ग्रहण करता है उसका अर्थ ही बदल जाता है।

कवि विनयचन्द जी जब प्रार्थना करते हैं *'त्रिलोकीनाथ तू कहिये, हमारी बाह दृढ़ गहिये'* तब वे क्या कह रहे होते हैं ? क्या सिद्ध भगवान या अरिहत देव हमारी बाह ग्रहण कर सकते हैं ? फिर 'बाह ग्रहण करने' की प्रार्थना क्यों ? परन्तु तब इसका अर्थ समझ में आ जाता है जब हम इनका सबध आत्मा से जोडते हैं। आत्मा के तार आपस में जुड़े रहते हैं। भावना यह है कि वे तार विच्छिन्न न हों। *उत्तराध्ययन सूत्र* में यही बात भिन्न रूप में कही गई है। सूई यदि ऐसे ही कहीं गिर जाये तो उसे ढूँढ पाना कठिन है परन्तु यदि उसके साथ धागा भी पिरोया हुआ हो तो वह सरलता से ढूँढी जा सकती है। ऐसे ही यदि बाँह का सहारा हमारे साथ रहे तो हम भटक भी जाय तो भी सही मार्ग पर लाये जा सकते हैं।

पतग के सबध में भी यही सच है। रहीम कवि ठीक ही कहा है *'उड़ी गुड़ी कितहू फिरै, तऊ उड़ायक हाथ।'* पतग कहीं भी उड़ती रहे परन्तु जब तक उसकी डोर उडाने वाले के हाथ में है वह उसे खींच कर सही ठिकाने पर ला सकता है। यदि डोर ही हाथ से छूट जाय तो पतंग की क्या दशा होगी, बताना आवश्यक नहीं है। यही स्थिति जीवन की भी है। प्रार्थना करने का मूल उद्धेश्य भी यही है कि मनुष्य स्वय विनयपूर्वक भगवान से जोड़े रहे, उसके साथ डोर से बधा रहे।

प्रार्थना के द्वारा व्यक्ति स्वयं के अहंकार को गलित कर, कृपा की आकाक्षा करता है। 'मैं' संबोधन से बहुत बड़ी भ्रान्ति हो सकती है क्योंकि जहाँ मैं आत्मा का सूचक है वहीं अह का बोधक भी बन सकता है। यही 'अहं' जब

तक अकेला होता है, विशेष परिणाम का सूचक नहीं बनता परन्तु इसके साथ 'कार' का योग होते ही यह 'अहकार' बन जाता है और 'अह' की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है।

पारिवारिक कलह अथवा सामाजिक झगड़ों का मूल कारण स्त्री, धन और जायदाद माने जाते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि व्यक्ति अपने लिए कुछ चाहता है। अपने अह की सतुष्टि उसे सर्वप्रमुख लगती है इसलिए बटवारे की बात आ जाती है। यदि यह अह अथवा अहकार भाव न हो, सभी कुछ को सब का माने, तो कलह अथवा झगडे का आधार ही समाप्त हो जाय, परन्तु व्यक्ति का अहकार ऐसा नहीं होने देता।

बडे-बड़े युद्धो का कारण भी शासकों अथवा अधिनायकों का अहकार रहा है। रावण के अहकार के कारण राम-रावण युद्ध हुआ, दुर्योधन के अहकार-भाव के कारण महाभारत का युद्ध हुआ। सिकन्दर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, तैमूरलग और चगेजखा के विश्वविजय के स्वप्नों के पीछे उनका अहकार भाव ही था। जर्मन जाति को सर्वश्रेष्ठ मानने के अह तथा हिटलर के अहकार भाव के कारण ही द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ था। आज भी शक्तिशाली राष्ट्रनायकों का अहकार-भाव उन्हें अनोखे समझौते अथवा गुट बनाने के लिये प्रेरित कर रहा है। सम्पन्न राष्ट्रो का अह उन्हें पिछडे और विपन्न राष्ट्रों से सहयोग में बाधा उत्पन्न कर रहा है।

आज आत्महत्या एक सामान्य सी बात बन गई है। इस आत्महत्या के पीछे कारण केवल अहभाव पर किसी रूप में चोट पहुँचना होता है। अह की टकराहट ऐसी स्थितियों को जन्म देती है जिनमें उसकी रक्षा के लिए मनुष्य कोई भी मार्ग अपनाने में नहीं हिचकता। पति-पत्नी के बीच तलाक की स्थिति भी एक के अति अहकार भाव की दूसरे के अहकार भाव से टकराहट के कारण ही उत्पन्न होती है। यदि दोनों पक्ष त्यागभाव का प्रदर्शन करें तथा सहनशीलता की प्रवृत्ति को न त्यागें तो झूठा प्रतिष्ठा भाव उन्हें कभी उस सीमा तक जाने न दे। भगवान महावीर ने भी क्रोध, माया मोह जैसी दुर्वृत्तियों में अहकार को सर्व प्रमुख माना है।

अहकार की अवस्था मे व्यक्ति का मस्तक तना रहता है—खम्भे की तरह। वह झुकना नहीं चाहता। और जब तक वह ऊपर का भाग नहीं झुकता, शरीर भी झुक नहीं सकता। नमस्कार की प्रणाली में मस्तक झुकता है। यह झुकना ही सम्पूर्ण अहकार का त्याग है जिसके लिये वाणी की आवश्यकता नहीं।

बाहुबली जिन में अह स्वभाव बना था परन्तु वह अहकार का रूप नहीं ले पाया था। यदि अहकार का रूप वह ले लेता तो नमन की प्रक्रिया मे वह आगे नहीं बढ़ पाते। परन्तु जैसे ही अह का विसर्जन हुआ तो स्वय के अहम् को प्राप्त कर लिया जिसे *आचाराग सूत्र* में *'सोहम्'* की उपमा दी गई है। इसका तात्पर्य है– *'वह मैं हूँ। जिसे तू मैं कह रहा है, वह मैं नहीं हूँ, किन्तु 'वह' मैं हूँ।* जहाँ अहम् का विसर्जन हो जाता है वहाँ 'मै' 'वह' हो जाता है– उसके पीछे जो अहम् है वह *'सोहम्'* है।' इसे जानने के लिए उस अहकार को समाप्त कर उस *'अह'* को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना का सहारा लिया जाता है।

'अह' का 'कार' के साथ सयोग ही 'अहकार' अथवा 'ममकार' को जन्म देता है। अहकार और ममकार व्यक्ति की आत्मा को पगु बना देते हैं इसीलिए उनके त्याग की बात की जाती है। उनका त्याग कैसे हो, इसके लिये गुरु के सान्निध्य में विनय की बात कही जाती है। गुरु का सान्निध्य एक प्रतिरोधी क्षमता उत्पन्न कर देता है । हमें ज्ञात है कि शरीर की प्रतिरोधी क्षमता के अभाव में ही जीवाणु, विषाणु, रोगाणु जिन्हे 'वायरस' कहते है, मनुष्य पर हावी हो जाते है और उसे रुग्ण बना देते हैं । जिस प्रकार भौतिक वातावरण के जीवाणुओं से सुरक्षा के लिए भौतिक प्रतिरोधक शक्ति निर्मित करनी पडती है उसी प्रकार आध्यात्मिक अथवा मानसिक वातावरण के जीवाणुओं से सुरक्षा के लिए आत्मिक प्रतिरोधक शक्ति निर्मित करनी पड़ती है। अहकार ओर ममकार भाव ही ऐसे जीवाणु हैं जो मन, हृदय और चरित्र को प्रभावित करने हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। विनय और प्रार्थना उसी आत्मिक प्रतिरोधक शक्ति के निर्माण का काम करते हैं । वे आध्यात्मिक एन्टीबायोटिक्स हैं। इनकी जब हृदय मे स्थिति होती है तब अहकार अथवा ममकार के जीवाणु आक्रमण भी करें तो वह आक्रमण विफल हो जाता है। इस प्रकार जब आतरिक प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न कर ली जाती है तब 'सोहम्' का वह स्वरूप उभर कर आता है जो मन और हृदय के सभी विकारों से सुरक्षा सुनिश्चित कर देता है। कवि विनयचन्दजी परमात्मा के चरणों में वन्दना करते हुए कहते हैं–

भवोदधि डूबतो तारो।
कृपानिधान आसरो थारो॥

आपका ही सहारा है। इस प्रकार प्रार्थना कर वे अपने आपको उस अवस्था में ले आते हैं जिसमें सम्पूर्ण अहम् का विसर्जन हो जाता है और वह शक्ति उत्पन्न

हो जाती है जो अहकार एव ममकार का सफल प्रतिरोध कर परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग सुनिश्चित कर देती है।

जब हम प्रार्थना करते हैं–

'कुथ जिनराज तू ऐसो, नहीं कोई देवतों जैसो' तो सम्यक् श्रुत और सम्यक् आचरण का धागा हमारे साथ जुड जाता है, हमारी बॉह दृढ हो जाती है और भावनिद्रा कभी हम पर हावी नहीं हो सकती । वह धागा हमें उसी प्रकार सावधान रखता है जिस प्रकार पतग के साथ लगी डोर उसे ऊचे आकाश में स्थिर रखती है, अथवा सूई के साथ लगी डोर उसे खोने नहीं देती। प्रार्थना इसी प्रकार इस भव में हमारी रक्षा करती हुई हमें परम मगल के लोक का मार्ग प्रदर्शित करती है।



मृत्योर्मा अमृतं गमय

जीवन प्रवाहों का पुज है उसमें अनेक प्रवाह आते हैं और व्यवगत हो जाते हैं । केवल प्रभावशाली प्रवाह जीवन पर स्थायी छाप छोड पाते हैं। प्रत्येक प्राणी की ज्ञानचेतना इतनी विकसित नहीं होती कि वह स्वकीय आभ्यतर प्रवाह को देख सके। स्थूल प्रवाह तो परिलक्षित होते हैं किन्तु सूक्ष्म प्रवाह नहीं । महावीर ने यही बात अपने शिष्य गणीवर गौतम से कही थी–

'नो इन्द्रिय गेज्झ होइ अभूत्त भाव .'

अर्थात् सूक्ष्मभाव इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं, आन्तरिक चेतना जागृत हो जाये और ध्यान अन्तर्मुखी बन जाये तो स्वयमेव आन्तरिक प्रवाह का ज्ञान हो सकता है ।

चिन्तन की ओर अग्रमुखी बनने पर ध्यान केन्द्रित करने से इस बात की पुष्टि होती है कि समस्त बाह्य प्रवाहो का उद्‌गम स्रोत है हमारा आभ्यन्तर प्रवाह । जैसा प्रवाह अन्तर्जगत् में प्रवहमान होगा वैसा ही प्रभाव हमारे बाह्य जीवन पर पडेगा । जब आन्तरिक प्रवाह शुद्धतम बनेगा तब बाहरी प्रवाह सारे अन्तर्जगत् को पुष्ट करने वाले बनेगे । *आचाराग सूत्र* में इस ओर सकेत किया है– *'जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते अणासवा'* अर्थात् जो आश्रव हैं वे ही कर्मबन्धन के कारण है । जब ये आश्रव बदलकर परिश्रव का रूप धारण कर लेते हैं तब आत्मा अन्तर्मुखी बन जाती है। और अन्तर्मुखी आत्मा मे जैसा शुद्ध प्रवाह प्रवहमान होता है वैसा ही बाहरी जगत् निर्मित होता है। इसलिए महावीर का दर्शन कहता है कि अन्तर में शुद्ध भावो का प्रवाह बहाने का प्रयत्न

करो। यदि तुम्हारा आन्तरिक जगत् निर्मल है तो बाह्य जगत् स्वतः परिमार्जित हो जायेगा।

समस्त शुद्ध भावों में महावीर ने अहिंसा को प्रधानता दी है। *आचारांग सूत्र* में कहा है– जितने भी अतीतकाल में तीर्थंकर हुए हैं, जितने भी आगामी काल में तीर्थंकर होंगे, जितने वर्तमान में तीर्थंकर हैं, वे सभी इसी बात को कहते हैं, इसी पर विशेष बल देते हैं कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, सभी सत्व, इनको मारना नहीं चाहिये, परिताप भी नहीं पहुचाना चाहिये। यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य, शाश्वत है। *दशवेकालिक सूत्र* में इस बात पर विशेष जोर दिया है कि *'षट्जीव निकाय की हिसा करना अनर्थ का कारण है।'* अतः साधक को किसी भी जीव की हिसा नहीं करनी चाहिये। इसी भगवती अहिसा की पुष्टि करते हुए महाकवि दिनकर ने कहा है कि भारत में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए उनमें से अहिंसावाद को उतना महत्व किसी ने भी नहीं दिया जितना जैन धर्म ने दिया है। *बौद्ध धर्म मे अहिंसा की एक सीमा है, स्वय किसी जीव का वध मत करो* किन्तु जैनों की अहिंसा पूर्णतः निस्सीम है। स्वय हिंसा करना, दूसरों से करवाना या अन्य किसी भी हिसा में सहयोग देना, जैन धर्म में वर्जित है। विशेषता यह है कि जैन दर्शन केवल शारीरिक अहिसा तक ही सीमित नहीं प्रत्युत् वह मानसिक, वाचिक, बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है। इसी अहिसावाद को लेकर भगवान महावीर ने याज्ञिकों का विरोध किया और यज्ञ हिसा को एकान्त पाप बताया।

व्यवहार-जगत् में भी इस बात का परीक्षण करें तो हम देखेंगे कि जितना मनुष्य अहिंसक बनेगा उतना ही उसका बाह्य जीवन शान्तिमय बनेगा। आज हम इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं कि हमारे जीवन का अहिंसक व्यवहार चेतना शक्ति में प्राण फूक रहा है। व्यक्ति, समाज, परिवार एव राष्ट्र का प्रत्येक काम अहिंसा से चल रहा है। कल्पना करें कि एक परिवार में दस सदस्य हैं। यदि वे आपसी सौहार्दपूर्ण आनन्द, समन्वित शान्तिमय जीवन के अभिलाषी हैं तो उन्हें हिसात्मक तरीकों को त्यागना होगा। उनको जीवनमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखना होगा। हिसा से अशान्ति फैला कर कुछ क्षण भले ही व्यतीत किये जा सकें, सम्पूर्ण जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। अत्यधिक क्रोधी व्यक्ति से भी यदि कह दिया जाये कि तुम आजीवन क्रोधावेश में रह जाओ तो वह नहीं रह सकेगा, यह स्पष्ट है। हिसात्मक भाव में मनुष्य अधिक समय व्यतीत नहीं कर सकता है।

अहिंसात्मक भाव शाश्वत है तो फिर क्यों न अहिंसक भाव में जीने का प्रयास करें ? अहिसात्मक धरातल पर खड़े रहने के लिए उसके प्रतिपक्षी का स्वरूप जानना आवश्यक है । बिना प्रतिपक्षी को जाने अहिंसा को पूर्णतया आत्मसात् नहीं कर सकते । *प्रश्न व्याकरण* में प्रभु महावीर ने उद्घोष किया *'हिसा समस्त दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देने वाली, अनन्तकाल तक ससार समुद्र मे डुबाने वाली अनेक कष्टों की खान है।'* हिसा के कारण ही प्राणी इस ससार में जन्म-मरण की प्रक्रिया करते रहते हैं । हिंसा जीवन का सर्वतोभावेन पतन करने का प्रमुख हेतु है। हिसा का स्वरूप तथा उसके तीस गुण निष्पन्न नाम *प्रश्न व्याकरण सूत्र* ने गिनाये हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पापी, असयमी, अविरत क्रोधादि कषाय से युक्त तथा मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्ति वाला भयकर प्राण-वध करता है।

मनुष्य हिंसा क्यों करता है ? इसका कारण बतलाते हुए *आचारॉंग* एव *प्रश्न व्याकरण सूत्र* में कहा है– मनुष्य, तिर्यच पचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा चमड़ी, चर्बी, मास, मेद, रुधिर, यकृत, फेफड़ा, मस्तिष्क, हृदय, ऑत, सींग, पूछ आदि अवयव प्राप्त करने के लिए करता है । इसी प्रकार अन्य प्राणियों की हिंसा स्वार्थपूर्ति, विभूषा, शिकार, मनोरजन, स्वादादि के कारण करता है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में इसके आगे एक महत्वपूर्ण बात और कह दी गई है, *'जो तिर्यंच प्राणियों की हिंसा करके आनन्द मनाते हैं, खुश होते हैं, वे मलेच्छ कोटि के हैं।'* अब हमें चिन्तन करना है कि हम किस कोटि से हैं यदि हिंसा करके हम खुश होते है अथवा समस्त हिंसात्मक कार्य करवाते हैं अथवा उनका अनुमोदन करते हैं तो हमारी श्रेणी कौनसी है ?

आज श्रावक-श्राविका हिसा से तैयार अनेक प्रकार की सौन्दर्य-प्रसाधन सामग्री आनन्द के साथ उपयोग में लेते हैं। हिंसात्मक वस्तुओं का अनुमोदन करते हैं। आरामदायक हिंसात्मक प्रसाधनों आदि का अनुमोदन करना आज मानव-स्वभााव बन गया है। किन्तु यह ध्यान रखो कि त्रस एव स्थावर जीवों की हिसा तीन करण तीन योग से करने पर यदि हम आनन्द की अनुभूति करते चले जायेंगे तो हमारी आत्मा अनेक कष्टों से घिर जायेगी और हमें नरक तिर्यंचादि गति में घोर यातनाएं सहन करनी पड़ेंगी।

नरक में एक पल के लिए भी चैन नहीं मिलेगा। निरन्तर मार-काट, लड़ाई-झगड़ा, कष्ट, वेदना, रोना, चिल्लाना और आत्मा को त्रास पैदा करने वाले कार्यों

का सामना करना पडेगा। इसलिए इन कष्टों से बचने का सात्विक उपाय है– हम प्रवाह को बदल डालें, हमारा प्रवाह जो जाने अनजाने हिसा की ओर गतिमान है इसे अहिंसा की दिशा प्रदान करें। दिशा बदलने से दशा भी बदलेगी और तब होगा हिसा आस्रव से अहिसा सवर मे प्रवेश।



सार्थक जीवन की दिशा

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवडे बसो, प्यारो प्राण समान।
कबहुँ न बिसरे चित्त सू, सदा अखण्डित ध्यान।।

यदि जिनेश्वर हृदय मे बसे रहें, उनका कभी विस्मरण न हो और ध्यान अखण्डित रहे तो कौन सी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । परन्तु मनुष्य है कि आतरिक सिद्धि को गौण और भौतिक सिद्धि को प्रमुख मानने लगा है। यह सत्य है कि विश्व अनन्त रहस्यों से भरा हुआ है। ये रहस्य इतने है कि एक को अनावृत करते ही दूसरा सम्मुख आ जाता है। इस कारण न तो सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और न ही परितृप्ति प्राप्त की जा सकती है। यही स्थिति जीवन की भी है। यदि मनुष्य अपने जीवन का ही अनुसधान कर ले और आत्मा के रहस्यों का पता लगा ले तो बाहर के रहस्यों का पता लगाने की आवश्यकता ही न पडे। परन्तु इसके लिये सुसस्कारित होना, प्रज्ञा को निर्मल बनाये रखना तथा चित्त-वृत्तियों पर नियत्रण रखना आवश्यक है। बस यही नहीं हो पा रहा है। भौतिक रहस्यों की पर्ते खोलने एव भौतिक सुखों की प्राप्ति की दौड़ में वह इस प्रकार दीवाना है कि अन्तरात्मा की आवश्यकताओ का उसे ध्यान ही नहीं रहता। प्रथम तो उसे मिल नहीं पाता और दूसरे से वह परिचय ही नहीं करना चाहता। परिणाम स्वरूप सभी ओर से असन्तुष्ट बना वह नाना तनावों से घिर जाता है।

दुर्भाग्य यही है कि आज लगभग प्रत्येक व्यक्ति इसी स्थिति से गुजर रहा है। तनाव का कारण क्या है यह उसे ज्ञात नहीं । यह अज्ञान उसे और अधिक तनावग्रस्त कर देता है क्योंकि कारणों से अनभिज्ञ होने के कारण वह तनाव की

स्थितियों से बचने का उपाय भी ढूँढ़ नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि उसे लगता रहता है कि सब कुछ ठीक नहीं है और यह अहसास उसके मन पर इस कदर हावी हो जाता है कि उसका उत्साह मर जाता है, किसी काम में उसका मन नहीं लगता, चित्त की वृत्तिया दुर्बल हो जाती हैं और उसकी कार्यक्षमता बुरी तरह प्रभावित हो जाती है। और इस कारण जब उसे अपने प्रयासों के अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं होते तब कुण्ठाए उसके मन में आसन जमा कर बैठ जाती है और वह निरन्तर असफलता का सामना करता हुआ अपने दुर्भाग्य पर विलाप करता अपनी मानसिक पीडा का रेचन करने को बाध्य हो जाता है। यदि वह तनिक अधिक साहसी हुआ तो कतिपय ऐसे मार्गों का अनुसधान करने को प्रवृत्त होता है जिनके माध्यम से वह शान्ति प्राप्त कर सके। सोचता है कुछ इधर-उधर घूम आयें किन्तु वहाँ भी वह खोया-खोया रहता है। घूमने में जो स्फूर्ति होनी चाहिये, मन में जो प्रसन्नता होनी चाहिये वह नहीं होती। भोजन के समय परोसा हुआ भोजन सम्मुख होता है, हाथ क्रियाशील होते है, मुख के माध्यम से वह उदरस्थ भी होता है परन्तु भोजन करने में न रुचि होती है और न स्वाद सन्तोष दे पाता है। भोजन करने की इच्छा तो नहीं होती पर पेट मे कुछ डालना होता है इसलिये बेमन से डाल लिया करता है। जीवन की आवश्यक क्रियाओं के प्रति जब इस प्रकार की अनमनी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब वह सोचता है कि स्वास्थ्य ठीक नहीं। साधन-सम्पन्न व्यक्ति अधिक चिन्तित होकर डाक्टर की सलाह लेते हैं। डाक्टर विधिपूर्वक सभी प्रकार से शरीर की जाँच करता है परन्तु कोई शारीरिक रोग हो तो वह बताये। सम्पूर्ण जाँच रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए वह कह देता है– 'आपको कोई रोग नहीं है।'

बीमारी नहीं है किन्तु वह स्वय अनुभव कर रहा है कि वह बीमार है अन्यथा ऐसा कैसा होता कि खाने-पीने एव जीवन के अन्य आवश्यक क्रियाकलापों से उसकी रुचि हट जाय ? उसे स्वय की बीमारी का अहसास होता है परन्तु डाक्टर कह देता है 'कोई बीमारी नहीं है,' यह तनाव का एक नया कारण बन जाता है। हमें सोचना है कि डाक्टर क्या जाँच करते हैं ओर क्या निदान करते हैं। डाक्टर तो शरीर में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान करते हैं और उनके आधार पर निदान प्रस्तुत करते हैं। परन्तु यदि यत्र में परिवर्तन नहीं आते तो वह कह देता है कि कोई बीमारी नहीं है क्योकि उसका निदान यत्रों के आधार पर होता है। परन्तु व्यक्ति को लगता है कि वह तो बीमार है परन्तु डाक्टर नहीं मान रहा है, कहता है कि

'तुम बीमार नहीं हो '। यदि मैं बीमार नहीं हूँ तो मुझे किसी काम में रुचि क्यों नहीं होती ? भोजन करने की भावना क्यों नहीं बनती ? ये सब स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण तो नहीं हैं। स्वस्थ व्यक्ति तो भोजन में रुचि लेता है, काम के प्रति उत्साहशील होता है परन्तु इस व्यक्ति के साथ ऐसा नहीं हो रहा है फिर भी माना जा रहा है कि वह बीमार नहीं है। ऐसा क्यों है ? यह भी एक रहस्य है उन नाना रहस्यों के समान ही जो हमारे जीवन में भरे पड़े हैं किन्तु हम जिन्हे जान नहीं पा रहे हैं। अब बात यह है कि ऊपर की अथवा भौतिक बीमारी हो तो उसकी ऊपर से खोज हो और यत्रों एव औषधियों से इलाज हो। परन्तु मूल वहा है ही नहीं। जहॉ मूल है वहा हम खोज कर ही नहीं रहे हैं, फिर चिकित्सा कैसे हो ?

मूल बीमारी भीतरी है, हमारे स्वय के अध्यवसायों में हो रही है। जैसे विचार बनते हैं, जैसे भाव बनते है, उन्हीं के अनुरूप भीतर की ग्रन्थियों का स्राव भी बनने लगता है। एक ग्रन्थि से दूसरी का सबध जुडा होता है। इन स्रावों के माध्यम का, अथवा उनके कारणों का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक उनके प्रवाहों को रोका नहीं जा सकता और जब तक वे प्रवाहमान रहेंगे, मन के माध्यम से शरीर की वृत्तियों को प्रभावित करते रहेंगे और मनुष्य को मानसिक रूप से रुग्ण बनाते रहेंगे। इस प्रकार अन्य दृष्टियों से स्वस्थ शरीर भी सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं रहेगा। इस स्थिति को थोडा सरल बना कर समझना आवश्यक है।

एक व्यक्ति जगल से गुजर रहा है, सयोग से चार स्त्रियाँ आती हुई मिल जाती हैं। व्यक्ति सोच मे पड जाता है– जगल में ये स्त्रियाँ कैसे ? जिज्ञासा बढ़ती है तो वह पूछ बैठता है, 'आप यहॉ कैसे आ गईं, आपका परिचय क्या है ?''

पहली बहिन ने कहा, 'मेरा नाम बुद्धि है।'

मनुष्य ने सोचा अच्छी बात है, बुद्धि से परिचय तो हुआ। जिज्ञासा बढ़ी, तो पूछ लिया, 'आपका अता-पता क्या है ? रहने का स्थान कहॉ है ?'

उसने पता बताते हुए कहा, 'मेरे रहने का स्थान मस्तिष्क है।' दूसरी बहिन ने बताया, 'मेरा नाम लज्जा है और मेरा निवास स्थान नेत्र हैं।'

तीसरी बहिन ने बताया, 'मेरा नाम साहस है और मेरे रहने का स्थान हृदय है।'

चौथी बहिन ने कहा, 'मेरा नाम स्वास्थ्य है और मेरे रहने का स्थान पेट है।'

चारों स्त्रियों का समुचित परिचय प्राप्त कर वह मनुष्य सतुष्ट हो गया और आगे बढ़ गया।

अभी वह कुछ दूर ही गया था कि उसे चार पुरुष सामने से आते मिल गये। उसका कौतूहल पुनः जाग्रत हुआ। उसने पूछ लिया, 'आप लोग कौन हैं और कहा के रहने वाले हैं ?'

पहला व्यक्ति बोला, 'मेरा नाम क्रोध है ?' रहने का स्थान पूछा जाने पर उसने निवास का स्थान मस्तिष्क बताया। उस व्यक्ति को आश्चर्य हुआ, उसने कहा, 'तुम कहते हो कि तुम्हारा रहने का स्थान मस्तिष्क है परन्तु अभी कुछ ही समय पूर्व कुछ बहनें मिलीं थीं उनमें से एक बुद्धि ने भी अपने रहने का स्थान मस्तिष्क को ही बताया था।' इस पर क्रोध ने उत्तर दिया, 'बात सही है किन्तु जब मैं मस्तिष्क में रहता हूँ तब वह नहीं रहती है और जब वह रहती है, तब मै नहीं रहता हूँ। इस प्रकार का एकान्तर रूप वहा पर है। जब तक बुद्धि वहाँ पर रहती है, मेरा वहाँ प्रवेश नहीं होता और जब मैं प्रवेश कर लेता हूँ तब वह वहाँ नहीं रह सकती ।'

व्यक्ति समाधि मे रहते हुए भी असमाधि में कैसे आ जाता है ? जब बीच में ही गुस्सा आ जाता है तब लोग कहते है कि इसका माथा गर्म हो गया है। इस प्रकार गुस्से का स्थान भी मस्तिष्क ही है। दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'मैं लोभ हू।' पता पूछने पर उसने बताया कि मेरा निवास स्थान आँखें हैं। इस पर उस राहगीर ने प्रश्न किया, 'ऐसा कैसे हो सकता है ? अभी कुछ समय पूर्व लज्जा ने बताया था कि वह आँखों मे रहती है।'

लोभ ने उत्तर दिया, 'हाँ, परन्तु मेरे वहाँ पहुँचने पर वह वहाँ से चली जाती है, मेरी उपस्थिति में वह आँखों मे रह ही नहीं सकती।' पथिक समझ गया कि बात ठीक है– जब मन में लोभ आ जाता है तब वह निर्लज्ज बन जाता है। जब तक लोभ नहीं आता, मनुष्य की आँखों में लज्जा बनी रहती है परन्तु लोभ के आते ही वह वहा से रवाना हो जाती है।

तीसरे व्यक्ति ने कहा, 'मेरा नाम भय है और मेरे रहने का स्थान हृदय है।' पथिक के द्वारा साहस के हृदय में रहने की बात के उत्तर में भय ने स्पष्ट किया 'साहस तो हृदय मे तभी तक रह सकता है जब तक मैं हृदय में प्रवेश नहीं करता। मेरे वहाँ पहुँचते ही साहस को भागना पडता है और मेरा एकछत्र राज्य स्थापित

हो जाता है।'

चौथे व्यक्ति ने अपना नाम रोग और अपने रहने का स्थान पेट बताया। यह सकेत किये जाने पर कि पेट में तो स्वास्थ्य रहता है रोग ने उत्तर दिया, 'रोग के आते ही पेट में खराबी आ जाती है और स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। किसी भी वैद्य से पूछ देखो वह यही कहेगा कि पेट रोगों की जड़ है।'

वस्तुस्थिति यही है। हम जानते हैं 'हिम्मते मर्दा मददे खुदा' परन्तु हम हिम्मत हार जाते हैं, साहस खो बैठते हैं, भयभीत हो जाते हैं और साहस पलायन कर जाता है। जब भय घर का मालिक बन जाता है तब साहस अथवा हिम्मत किसी काम नहीं आ पाते। ऐसी स्थिति में बुद्धि भी भ्रष्ट अथवा नष्ट हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को यदि कोई शिक्षा भी देना चाहे तो भयभीत व्यक्ति आवेश में आकर झगडे पर उतारू हो जाता है। ऐसी दूषित मानसिकता का प्रभाव उसकी वृत्तियों पर पड़ता है, उसकी खान-पान, मनोरजन आदि की इच्छा समाप्त हो जाती है और वह बीमार बन जाता है– तन से नहीं, मन से। अब मन के इस रोग को कोई डाक्टर अपने चिकित्सा उपकरणों से कैसे पकडे ? रोग की यह अवस्था आज जीवन के साथ जुड़ गई है। व्यक्ति का जब अपने रोग से परिचय ही नहीं हो पाता तब वह उसका निदान कैसे कर सकता है ? यह तो ऊपर के स्वास्थ्य की बात है, यदि गहराई में जायेंगे तो पता चलेगा कि हमारी आत्मा कितनी बीमार है। मूल बीमारी तो आत्मा से जुड़ी है– यही तो 'भव रोग' है जिसके उपचार के लिये सतों ने अनेक मार्ग सुझाये हैं परन्तु उनकी ओर क्या सामान्य लोगों का ध्यान जाता है ? यदि आत्मा को हम स्वस्थ बना लेंगे तो बाहर की बीमारी हमें अस्वस्थ बना ही नहीं पायेगी।

भगवान महावीर की अस्वस्थता की बात कही जाती है परन्तु क्या वे असमाधि में पहुचे थे ? नहीं । उनकी आत्मा में कोई बीमारी थी ही नहीं इसलिये भय का उनके हृदय में प्रवेश ही नहीं हो सका था। जब चौकीदार सजग हो तब चोर का भी सामना किया जा सकता है । बुद्धि अप्रभावित रहे और हृदय में साहस रहे तो भव रोग क्या बिगाड सकता है ? वे पुरुषार्थी थे, हृदय में साहस था, निर्भयतापूर्वक रोग का सामना किया, वेचारा भीतर तो प्रवेश नहीं कर पाया केवल शरीर पर प्रभाव दिखाकर रह गया, आत्मा के गुणों का कुछ भी बिगाड नहीं पाया।

आत्मा का सबसे बडा रोग है मिथ्यात्व । इसी के कारण आत्मा अस्वस्थ

बनती है। इस मिथ्यात्व के कारण ही अन्य शक्तियों का भी क्षय हो जाता है। मिथ्यात्व पहले ज्ञान पर फिर दर्शन पर आवरण डाल देता है और मनुष्य के सम्पूर्ण पतन का मार्ग निर्मित कर देता है। इस मिथ्यात्व से आत्मा की रक्षा के लिये भगवान महावीर ने साधना का मार्ग बताया है। उन्होंने कहा है– 'तुम प्रमाद का सेवन मत करो।' प्रमाद भी एक प्रकार का भय है अत· प्रमाद करने वाला निरोग नहीं रह सकता। प्रमाद पुरुषार्थ को भी क्षीण करता है। वह मिथ्यात्व पर आधारित होता है और जिस प्रकार बारूद के ढेर पर बैठा व्यक्ति अपनी सुरक्षा के सबध में निश्चिन्त नहीं हो सकता उसी प्रकार मिथ्यात्व अथवा प्रमाद का आश्रय लेने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा की सुरक्षा के सबध मे निश्चिन्त नहीं हो सकता। असावधानी दोनों ही स्थितियो में सर्वनाश का कारण बन सकती है।

इसलिये मुख्य बात ज्ञान की है– सम्यक् ज्ञान की है। अज्ञान हमेशा मनुष्य के साथ धोखा करता है। भगवान महावीर पहले ज्ञान प्राप्त करने की जो बात कहते हैं वह भी इसी कारण कि यदि मनुष्य आस-पास के वातावरण को नहीं जानेगा तो त्याग सही नहीं होगा और मनुष्य स्वस्थता के साथ उनका पालन भी नहीं कर पायेगा। मनुष्य के लिये आवश्यक है कि वह निर्भय होकर, साहसपूर्वक बुद्धि के आलोक में स्वय की वृत्तियो का अन्वेषण करे, उनका परीक्षण करे और मिथ्यात्व का परिहार कर सत्य को अगीकार करे। इस प्रकार जब शोध के मार्ग पर वह प्रवृत्त होगा तभी उन रहस्यों को अनावृत कर पायेगा जो स्वस्थ जीवन सुनिश्चित करते हैं। प्रभु महावीर ने रहस्यो को कुशलतापूर्वक अनावृत कर यह प्रमाणित कर दिया था कि मनुष्य के अदर शक्ति का अक्षय भण्डार होता है। यदि साहस और विवेकपूर्वक वह उसका उपयोग करे तो स्वय का तो कल्याण करेगा ही विश्व का मगल भी सुनिश्चित करेगा। अखण्डित ध्यान द्वारा प्रभु जिनेश्वर का स्मरण कर अपनी प्रवृत्तियो के अन्वेषण की दिशा में सक्रिय होना ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग है। वह ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तनाव की सभी स्थितियाँ स्वत ही समाप्त हो जाती हैं और समरसता का सागर हृदय में तरगित होने लगता है। मानव जीवन का यही तो लक्ष्य है।



सम्बुज्झह किं न बुज्झह

अनतकाल से इस ससार में आत्मा का सचरण हो रहा है। अनेक रूपों तथा अनेक योनियो में जन्म ले यह आत्मा शरीर के माध्यम से विभिन्न अनुभव प्राप्त करती है। अहकार, क्रोध, मोह आदि से ग्रस्ति हो अनेक बार असयमित हो तथा मनोबल की कमी के कारण यह आत्मा हीन कर्मो का उपार्जन भी करती है। सुदीर्घ काल तक इस प्रकार भटकती हुई यह आत्मा क्या ज्ञान प्राप्त कर पाती है ? अज्ञानान्धकार का विनाश कर शुभ कर्म करती हुई क्या विविध भवों में परिभ्रमण के उपरान्त भी क्या यह केवलावस्था तक पहुँच पाती है ? यदि नहीं तो इतने विशाल एव विविध अनुभव का मूल्य क्या ? कहावत है– '*रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान,*' परन्तु जन्मो की अटूट रगड भी क्या आत्मा पर निशान डाल पाती है ? कदाचित् ऐसा हो पाता तो यह ससार दु·ख का पारावार न रह कर आत्मा के रमण का दिव्यलोक बन जाता, परन्तु भ्रमित बुद्धि को नियन्त्रित किये बिना ऐसा सभव नहीं। तभी तो कवि विनयचद जी ने गाया था–

विमल जिनेश्वर सेविये, थारी बुद्धि निर्मल हो जाये रे जीव।
विषय, विकार निवार ने, तू मोहनी करम खपाय रे।
जीवा, विमल जिनेश्वर सेविये।

दूसरी ओर शास्त्रीय सबोध है– '*सम्बुज्झह कि न बुज्झह।*' 'बुज्झह' से तात्पर्य है बोध। '*कि न बुज्झह*' अर्थात् '*क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हो ?* इस कथन में '*क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हो*' का विशेष महत्व है। यद्यपि 'सम्बुज्झह' कहने से काम चल जाता है तथापि सम्पूर्ण भाव स्पष्ट नहीं होता। सम्यक् बोध की प्राप्ति के

लिये प्रयास भी आवश्यक है। इसीलिये *'किन बुज्झह'* कहना आवश्यक हो जाता है।

'किन बुज्झह' उस प्रवृत्ति का परिचायक है जिसके दर्शन प्रबुद्ध मानव में अनादिकाल से होते रहे हैं। सम्यक् बोध अथवा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिये अगणित नर अनादिकाल से प्रयास करते आये है परन्तु क्या वे सभी सफलीभूत हुए हैं ? साधको के ऐसे असफल प्रयासों को लक्ष्य कर ही प्रभु महावीर ने ऐसे प्रयासों की असफलता के कारणो की विवेचना की थी। उनके अनुसार सम्यक् बोध की प्राप्ति के लिये तदर्थ प्रयास अथवा काल्पनिक उडानो से सफलता मिलनी सभव नहीं है। *'मैं बोध प्राप्त कर लू'* इतनी कामना ही पर्यात नहीं है क्योंकि सम्यक् प्रयासों के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रभु ने कहा–

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेण तु भुजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कल अग्घई सोलासि॥

अर्थात् एक मास की तपस्या करते हैं, मन में सकल्प कर लेते हैं कि मैं एक महीने तक कुछ भी भोजन नहीं करूँगा और एक महीने के बाद केवल कुशाग्र, घास के अगले भाग से जितना अन्न उठता है, उतना ही भोजन ग्रहण कर पुनः एक महीने की तपस्या करूगा। कुछ साधक यदि इस प्रकार क्लेश सेवन करते हैं तो कुछ वृक्षो की शाखाओं से लटक कर अथवा गुफाओ में बैठ कर साधना करते हैं। वे सोचते हैं कि इस प्रकार वे साधना के शिखर पर आरूढ़ हो रहे हैं, परन्तु प्रभु महावीर इसे केवल एक उड़ान मानते हैं। यह तो एक छलाग मात्र है। छलाग लगाने वाला गन्तव्य तक पहुँच जाय यह आवश्यक नहीं। जब तक उसके पीछे सम्यक् ज्ञान नहीं होता, छलाँग गन्तव्य तक तो नहीं ही पहुँचाती हाथ-पॉव तोड़ भी सकती है। अत. कामना, क्षमता और लक्ष्य, तीनों का सम्यक् ज्ञान होना तथा इनके बीच समुचित समन्वय होना भी आवश्यक है। इसी सदर्भ में प्रभु महावीर ने कहा है–

'संबुज्झह किं न बुज्झह,
सबोही खलु पेच्चदुल्लहा ॥'

तुम बहुत काल से उड़ान भर रहे हो, छलॉग लगा रहे हो परन्तु तुमने अपनी गति का सशोधन नहीं किया इसीलिये तुम्हें विकास का वह सोपान, जो तुम प्राप्त करना चाहते हो, प्राप्त नहीं हुआ।

कारण है एकाग्रता तथा लक्ष्योन्मुखता का अभाव। जिस प्रकार आकाश में ऊँची उडती हुई चील की दृष्टि पृथ्वी पर खाद्य पदार्थ के अन्वेषण में लगी रहती है और उस पर दृष्टि पडते ही, तीव्रता से तुरन्त उस पर झपट्टा मार वह उसे ले त्वरित गति से ऊपर उड़ जाती है, उसी प्रकार साधक को निष्ठा और लक्ष्योन्मुखता के साथ साधना में प्रवृत्त होना चाहिये तभी सिद्धि उसे प्राप्त हो सकती है। बिल्ली और सिहासन से सबधित दृष्टात भी इसी तथ्य की ओर सकेत करता है–

एक बार जानवरों का एक विशाल सम्मेलन हुआ। बिल्ली भी उसमें सम्मिलित हुई। जब सम्मेलन समाप्त हो गया तब किसी ने बिल्ली से पूछा– 'बहिन मार्जारी, तुमने सम्मेलन में क्या देखा और क्या सुना ?'

बिल्ली ने उत्तर दिया, 'भाई मैंने तो सम्मेलन में न कुछ देखा न कुछ सुना।'

पूछने वाले ने फिर पूछा, 'तो क्या तुम सम्मेलन में सो गई थीं ? बिल्ली ने उत्तर दिया, 'भाई, सोना कैसा, जब ध्यान कहीं लगा हो तो नींद कैसे आ सकती है और असम्बद्ध कुछ सुनाई अथवा दिखाई भी कैसे दे सकता है ?'

प्रश्नकर्त्ता के पुनः जिज्ञासा व्यक्त करने पर बिल्ली ने शका का समाधान किया, 'भाई, मेरा ध्यान तो लगातार महारानी के सिहासन की ओर ही लगा था।'

'वह क्यों ? क्या तुम सिहासन लेना चाहती थी ?

बिल्ली ने अब पूरी स्थिति स्पष्ट की, 'नहीं भाई मुझे सिंहासन से क्या लेना देना। मेरा ध्यान तो लगातार सिहासन पर बैठी चुहिया की ओर था। मैं इस फिराक में थी कि कब वह वहा से हटे और मैं उसे दबोच लू। भला ऐसी स्थिति में मुझे कैसे ध्यान रहता कि वहा क्या हो रहा था।'

सदर्भ कोई भी हो, बात एकाग्रचित्तता की है जिसके प्रति आज का साधक पूर्णतः उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपनाये हुए है। वह सत्सग तो करता है परन्तु उसका ध्यान सदैव सासारिक व्यवस्थाओं में रहता है। जैसे खूटें से बधी गाय सीमित दायरे से बाहर नहीं जा सकती अथवा खोल दी जाने के बाद पुन. खूटे पर लौट आती है इसी प्रकार आज का श्रावकवर्ग हो गया है। वह व्याख्यान के अवसर पर भले ही सभास्थल पर पहुँच जाय, मागलिक सुनने के लिये भले ही समय का ध्यान रखे परन्तु उसका मन न व्याख्यान में होता है न मागलिक में। प्रवचन अथवा मागलिक का लाभ उसे कैसे मिले जब उनके दौरान भी उसका मन उनमें नहीं होता। साधु-

सतों के वचनों का उस पर प्रभाव तो पडता है, उसमें प्रेरणा व उत्साह भी जागृत होता है परन्तु वह क्षणिक होता है और अपने कर्मस्थल तक पहुँचते-पहुँचते प्रवचन अथवा मगलवाणी का प्रभाव समाप्त हो जाता है और उसका मन पुन. व्यावसायिक हितों की पूर्ति में रम जाता है। इस मनोदशा से छुटकारा मिले और सतों के सान्निध्य से कल्याणकारी स्थिति बने इसलिये महावीर ने कहा– *'सम्बुज्झह कि न बुज्झह, सबोही खलु पेच्चदुल्लहा'* क्यो नहीं बोध कर रहे हो ?

बात कहने मे बहुत छोटी दीखती है परन्तु है वह अत्यन्त गूढ़। बोध प्राप्त करना क्या सहज है ? उस हेतु साधना का मार्ग क्या सुगम है ? जब तक जीव-अजीव का ज्ञान नहीं होता, श्रावक जीवन की साधना नहीं होती। जब तुम जीव को नहीं जानते, अजीव को नहीं जानते तो गति कैसे कर पाओगे ? सबसे पहले स्वय को जानना होगा और जानना होगा आत्मा तथा उसके स्थान को, तत्पश्चात् उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा। उदाहरण के लिये व्यक्तियों की मानसकिता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। एक व्यक्ति फल खाने के लिये वृक्ष काटता है, दूसरा शाखाए, तीसरा डालियाँ चौथा टहनियाँ और पाँचवा फलों के गुच्छे तोडता है, छठा विचार करता है कि पर्याप्त फल पक कर वृक्ष के नीचे गिरे पडे हैं, इनसे ही अपनी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है तब वृक्ष को क्यों हानि पहुँचाऊँ। यह है सम्यक् दृष्टि जो सम्यक् मूल्याकन पर आधारित है, अत्यल्प से सतुष्ट हो सकती है। यह है बोध की दिशा, इस मार्ग पर चलती हुई आत्मा तत्त्व ज्ञान तक पहुँच सकती है। तभी तो कहा गया है– *'सबुज्झह कि न बुज्झह, सबोही खलु पेच्चदुल्लहा'*, साधक तुम सम्हल जाओ, अब तक नहीं सम्हले हो, अव कब समय मिलेगा ?

आँटे अलगाने की चिन्ता करो। विचार करो कि यदि तुमने एक भी आटा सुलझाया है तो वह कौनसा है। वाहर के आँटे तो अलगाओ परन्तु अन्दर के कसते जाओ, तो यह कैसी सफलता हुई ? जव तक भीतर के आँटे ढीले नहीं होंगे तब तक ऊपर के कितने भी ढीले करते जाओ, त्राण मिलने वाला नहीं क्योंकि भीतर के आँटे तो कसते जा रहे हो। परन्तु भीतर के आँटे ढीले होते ही ऊपर के आँटे स्वय खुलने लगते है– यही बोध है। भौतिक चकाचौंध और पुद्गलो पर यदि दृष्टि लगी रहेगी तो अन्तर्दृष्टि कैसे जागृत होगी।

वोध का मार्ग कठिन भी नहीं है, न साधना की अधिक आवश्यकता ही है।

कभी-कभी एक वचन मात्र जीवन को परिवर्तित कर देता है। अगुलिमाल के साथ ऐसा ही हुआ था। उसने बुद्ध से कहा *'रुक जाओ ।'* उन्होंने कहा, *मैं तो रुका हुआ ही हू। भीतर के ज्ञान से देखो तो समझ जाओगे। मेरे मन की गति रुकी हुई है, वह मेरे वश में है। यदि तुम मन पर अकुश लगाओ और भीतर की गति रोक लो तो सत्य समझ जाओगे।'*

यही बोध है। मन की भटकन को जो रोक लेता है वह भगवान बन जाता है। यही तो भेद है, लक्ष्य को प्राप्त करने का रहस्य है। आकाश में ऊँची उडती हुई चील इसीलिये पृथ्वी पर रेंग रहे छोटे से शिकार को भी देख लेती है। वह मन की गति पर अकुश रखती है। भौतिक गति की तीव्रता के उपरान्त भी मन एकाग्रचित्त रहता है, तभी तो वह अपने उद्देश्य में सफल होती है।

मन अत्यन्त चचल होता है और उसकी गति अत्यन्त तीव्र। क्षण मात्र मे वह सृष्टि के ओर-छोर तक जा सकता है। शरीर की गति से उसका यही प्रमुख अन्तर भी है। शरीर की गति को नियत्रित करते हुए मन की गति पर अकुश लगाना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा होने पर ही लक्ष्य की सिद्धि हो सकती है। यही भगवान की प्राप्ति का मार्ग भी है। जो यह जान जाता है अथवा जिसे यह बोध हो जाता है उसे भगवान का पता भी मिल जाता है। अज्ञानी ही कह सकता है *'भगवान तुझे मैं खत लिखता, पर तेरा पता मालूम नहीं।'* ऐसे अज्ञानियों को वह पता कैसे दे ? क्यों दे ? उसे अपने पास ऐसी अनावश्यक डाक का ढेर लगवाने की आवश्यकता नहीं। वह ऐसी चिट्ठिया अपने पास क्यों पहुँचने दे ? बोध प्राप्त करने वाले कितने कम होते है, उनकी डाक भी आवश्यक एव उपयोगी होती है, भगवान के लिये वही पर्याप्त है।

समय का अनन्त प्रवाह गतिमान है। इन्द्रियों को अनियत्रित तथा अन्तरात्मा को उन्मुक्त छोड़ कर मनुष्य इस प्रवाह में बहा जा रहा है। परन्तु प्रवाह में बहना तो जीवन नहीं, न लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा है। जो प्रवाह को मोड सकता है, अथवा प्रवाह से कट कर अपने लक्ष्य की ओर मुड सकता है, उसी का जीवन सार्थक होता है परन्तु उसके लिये आस्था आवश्यक है। यही तो समझना है, यही है सम्यक् बोध। विमल जिनेश्वर के प्रति समर्पण से बुद्धि को निर्मल करके जो इस मार्ग पर प्रवृत्त होता है उससे कहना नहीं पडता– *'सम्बुज्झह कि न बुज्झह'*[1] । ❑

---

1 धर्म और धर्मनायक-सघ धर्म (अध्याय 7)

निर्मल बुद्धि और धर्म

जीवन के साथ मृत्यु का सयोग जुडा हुआ है। सूर्य भी पूर्व में उदित होकर अपनी दैनदिन यात्रा करता है और मध्यान्ह के प्रचण्ड ताप के बाद शनैः शनै. पश्चिम दिशा में अस्त हो जाता है। जब बालक का जन्म होता है, सबधी और परिजन हर्ष व्यक्त करते हैं, सोचते हैं कि हमारे घर में कुलदीपक का अवतरण हुआ है। बधाइयाँ दी जाती हैं और उत्सव आयोजित किये जाते हैं। तब इस तथ्य की ओर कोई ध्यान नहीं देता कि जन्म लेने वाला बालक प्रतिक्षण मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा है, प्रतिपल उसकी आयु क्षीण हो रही है। जन्म और मृत्यु के इस चक्र को समझना आवश्यक है। यह जीवन जीने के लिये ही नहीं है कि जिये और मर गये। जन्म, जीवन और मृत्यु की सार्थकता किसी अन्य वस्तु में है और इसीलिये जन्म लेने का महत्त्व है। इसीलिये जन्म के साथ आनद और हर्ष के क्षण जुडते है। जिस अन्य वस्तु में जीवन और मृत्यु की सार्थकता है वह वस्तु है जीवन का उपयोग। यदि जीवन आत्मकल्याण अथवा जनकल्याण हेतु समर्पित हो जाता है तो जीवन भी सार्थक मान लिया जाता है– ऐसा जीवन जीने वाला ही मरकर भी अमर हो जाता है, उसी का जन्म और मरण कोई अर्थ रखता है। परन्तु ऐसे जीवन के लिये बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है। निर्मल बुद्धि ही उचित-अनुचित तथा करणीय और अकरणीय के विवेक में सहायक होती है। ऐसी निर्मल बुद्धि प्राप्त करने के लिये सतो और भगवन्तों की कृपा भी आवश्यक होती है। कवि विनयचद जी विमलनाथ भगवान की प्रार्थना में प्रत्येक को ऐसी निर्मल बुद्धि प्राप्त होने हेतु मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं–

रे जीवा, विमल जिनेश्वर सेविये,
थारी बुध निर्मल हो जाय रे।

बुद्धि निर्मल होगी तो विषय-विकारों से छुटकारा पाने का विवेक भी जाग्रत होगा और मोहनीय कर्मों से भी मुक्ति मिलेगी।

बुद्धि की महिमा अवर्णनीय है। विवेक का अकुश न होने पर यह तर्क की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती है जिसकी एक परिणति कुतर्कों में भी होती है। आज का मनुष्य बौद्धिक विकास की इसी दिशा में भ्रमित हो गया है। निश्चय ही बुद्धिवाद ने वैज्ञानिक युग के विकास मे योग दिया, मनुष्य ने आश्चर्यजनक खोजें की, चमत्कारिक आविष्कार किये और ऐसे यात्रिक युग का निर्माण किया जो भौतिक सुख-सुविधा के साधनों से परिपूर्ण बना परन्तु बौद्धिक विकास की यह दिशा कल्याणकारी नहीं रही। शरीर के सुख सतोष को तो महत्त्व मिला, आत्मा के सुख सतोष के विचार की उपेक्षा हुई। विकास की इस भ्रमित दिशा ने ही मनुष्य के इस रूप की पहचान कराई है–

बुद्धि में नम की सुरभि, तन में रुधिर की कीच।
यह वचन से देवता पर कर्म से पशु नीच।

तब बुद्धिवाद की इस अप्रतिहत गति पर अकुश कैसे लगे। निश्चय ही बुद्धि की गति को रोका नहीं जा सकता। रोकने का अर्थ होगा मृत्यु अर्थात् कर्मठता की इति। यह उपचार तो रोग से अधिक हानिकारक ठहरेगा। इसका भिन्न उपचार है– बुद्धि की गति को विपरीत दिशा में मोड़ देना, भौतिक विकास की दिशा से आध्यात्मिक विकास की दिशा में मोड़ देना। यह धर्म की दिशा भी होगी और आराधना की दिशा भी जिसकी ओर साधक की निरन्तर दृष्टि रहती है परन्तु धर्म साधना के सही स्वरूप से परिचित न होने के कारण साधना सफल नहीं हो पाती। अत. धर्माराधना के सही स्वरूप को जानने के लिये बुद्धि का प्रयोग किया जाना अपेक्षित है और यही धर्मसमीक्षण की बात आती है।

बडी गहरी बात है धर्म की समीक्षा करना। पर बात बहुत सीधी भी है। हम जब बाजार से गेहूँ या अन्य कोई अन्न खरीद कर लाते हैं तो उसको देखा जाता है, सफाई की जाती है क्योंकि उसमें ककर-पत्थर, कीड़े-मकोड़े आदि होने की सभावना रहती है, अन्य वस्तुओं की मिलावट की भी सभावना रहती है। अत: अन्न को पहले फटक-बीन कर अनावश्यक एव हानिकारक वस्तुओं से रहित कर

दिया जाता है, उसके उपरान्त ही उसका उपयोग किया जाता है। यदि पैनी दृष्टि न हो तो इसमें भी गडबड हो सकती है। क्या धर्म के साथ भी ऐसा सभव है ? क्या धर्म में भी अन्य हानिकारक तत्त्वों का सम्मिश्रण हो सकता है, हो सकता है, तभी प्रभु महावीर ने कहा है– "पन्ना समीख्ये धम्म"।

साधक धर्म की समीक्षा करे, उस धर्म की जिसका वह पालन करता है। यही बात कवि विनय चद जी ने भी कही है किन्तु किंचित भिन्न रूप में। वे कहते हैं विमलनाथ भगवान की उपासना करो जिससे तुम्हारी बुद्धि निर्मल बन जाय। उनकी भावना यही है कि तुम जिस साधना में जी रहे हो उसमें भी बुद्धि निर्मल होनी चाहिये। हमे ज्ञात है कि कॉच का रग वस्तु के रग के सबध मे भ्रम उत्पन्न कर देता है। वस्तु के वास्तविक रग-रूप की पहिचान के लिये कॉच का रग विहीन- निर्मल होना आवश्यक है। इसी प्रकार यदि बुद्धि पर अन्य कोई प्रभाव आ जाये तो धर्मदृष्टि मे भी दूषण आ सकता है। धर्म की सम्यक् आराधना के लिये इसीलिये निर्मल बुद्धि की आवश्यकता होती है। यह निर्मलता विमलनाथ भगवान की उपासना द्वारा प्राप्त की जा सकती है। कहा भी है–

विषय विकार विसार ने
तू मोहनी करम खपाय रे।

उन्होंने कहा है– तुम्हारी बुद्धि पर मोहनीय कर्म का रग लगा है। विषय-विकार बुद्धि को निर्मल नहीं रहने देते। इसीलिये दर्शन से पूर्व भी 'सम्यक्' शब्द जोडा जाता है– सम्यक् दर्शन, सम्यक दृष्टि। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दृष्टि होती है, अपना चिन्तन होता है और अपना दर्शन होता है जिसके आधार पर वह चिन्तन मे अनुभूति करता है। यदि यह चिन्तन सम्यक् अवस्था मे न हो तो दर्शन मिथ्या हो जाता है। सम्यक् अवस्था समीक्षा से आती है और समीक्षा से वे तटस्थ भाव उत्पन्न होते हैं जो वस्तु को उसके सही रूप में देखने की क्षमता प्रदान करते है। बुद्धि की निर्मलता इस तटस्थ स्थिति की प्राप्ति के लिये आवश्यक है परन्तु क्या कारण है कि यह निर्मलता आ नहीं पाती।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ.राजेन्द प्रसाद से सबधित दो प्रसग इस निर्मल बुद्धि की महिमा स्पष्ट करते हैं। कॉग्रेस कार्य समिति की वैठक में एक अत्यत महत्त्वपूर्ण सनसनीखेज रिपोर्ट प्रस्तुत की जानी थी। वैठक प्रारभ हो गई किन्तु वह रिपोर्ट किसी कर्मचारी की लापरवाही से गुम हो गई थी। सबधित अधिकारी बहुत

चिंतित हुए तभी उन्हें ध्यान आया कि वह रिपोर्ट पढ़ने के लिये महात्मा गाधी और राजेन्द्र बाबू को दी गई थी। एक अधिकारी ने हिम्मत करके डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से रिपोर्ट के सबध में जानकारी मागी। उन्होंने कहा कि वह रिपोर्ट तो उन्होंने पढ़कर वापिस कर दी थी। जब उसके खो जाने की वस्तु स्थिति का उन्हें पता चला तब उन्होंने कहा कि मुझे उसका ध्यान है, मैं वापिस लिखवा देता हूँ। कोई अन्य उपाय न देख कर उनसे वह रिपोर्ट लिखा देने का आग्रह किया गया। राजेन्द्रबाबू ने अपनी स्मृति से ही वह लगभग 100 पृष्ठों की रिपोर्ट लिखवा दी। तभी पता चला कि वह रिपोर्ट मिल गई थी। जिज्ञासावश दोनों का मिलान किया गया– दोनो मैं पूरी तरह समानता मिली। प नेहरू ने जब उनसे उनकी ऐसी क्षमता का स्रोत पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया, " मैं अपनी बुद्धि पर विषय-विकार का पर्दा नहीं पड़ने देता हूँ। मैं समभाव में चलता हूँ और सात्विक व्यवहार रखता हूँ। मेरा मस्तिष्क दूध से पुष्ट हुआ है, अण्डों से नहीं। शाकाहार और निर्मल बुद्धि कौन सा चमत्कार नहीं कर सकते ?"

दूसरा प्रसग उनके छात्र-जीवन का है। वे अनोखी प्रतिभा के धनी थे। एक बार वे परीक्षा केन्द्र पर कुछ विलम्ब से पहुँचे। जब उन्हे समय-सीमा का स्मरण कराया गया तो उन्होंने कह दिया कि मैं अतिरिक्त समय की मॉग नहीं करूँगा। और आश्चर्य की बात, ठीक समय पर उन्होंने अपनी उत्तर पुस्तिका परीक्षक को सौंप दी। बताया जाता है कि सभी प्रश्नों के विस्तृत उत्तर लिख दिये गये थे साथ ही अत में यह विनम्र टिप्पणी भी जोड दी गई थी कि परीक्षक कोई भी पॉच प्रश्न जॉच कर अक दे दें। यह था आत्मविश्वास और निर्मल बुद्धि का चमत्कार।

प्रभु महावीर ने भी कहा है कि जिस व्यक्ति की प्रज्ञा निर्मल होती है वह गहराई तक पहुॅच कर धर्म की व्याख्या कर सकता है और धर्म के तत्त्व समझ और समझा सकता है। उन्होंने यह भी बताया है कि एक ही पद के अनेक पर्याय होते हैं, अनेक अर्थ होते हैं परन्तु उन्हें वह व्यक्ति ही प्राप्त कर सकता है। जिसकी बुद्धि निर्मल होकर ज्योति के रूप मे स्थित हो गई हो। उन्होंने स्पष्ट कहा कि तुमने जितना समझा है उतना ही ससार नहीं है, तुम अपनी प्रज्ञा को निर्मल करके चलोगे। तो इस ससार के विस्तार और उसकी प्रकृति के अर्थो और रूपों को समझते चले जाओगे कवि विनय चद जी ने यही बात विमल जिनेश्वर को केन्द्र मे रख कर कही है और इसी से जुड़ती है धर्म की समीक्षा की बात। प्रभु महावीर ने हमारी पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयों को भी धर्म कहा है। वे कहते हैं 'श्रावक

तुम सोचो, सोचोगे तभी तो जानोगे।' यह सोचना ही समीक्षा का मार्ग है परन्तु इस सोचने की सार्थकता बुद्धि की निर्मलता पर निर्भर है। इस हेतु जिनेश्वर देव की कृपा का भी महत्त्व है। इसी कृपा की प्राप्ति हेतु उनकी उपासना का मार्ग निर्धारित किया गया है।



अपूर्व देह धारण रूप जन्म-सुखावह

तीर्थंकर देवों के चरणों में नमस्कार की विधि मगलाचरण के रूप में प्रस्तुत की जाती है। यह मगलाचरण जीवन का मगलाचरण बन जाये, यही भावना रहती है। आज का यह मगलाचरण एक नवीन जीवन का मगलाचरण प्रस्तुत कर रहा है, जिसका सम्बन्ध आचार्य देव के जन्म दिवस से जुडता है।

'जन्म' शब्द पर मैं चिन्तन करता हू तो पाता हू कि शास्त्रकार तो जन्म को दुःख की सज्ञा दे रहे हैं–

जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगाणी मरयाणि य।
अहो दुक्खोत्ति ससारो जत्थ कीसति जतुणो॥

अर्थात् जन्म दुःख है, जरा दु ख है, रोग और मरण दु.ख है। यह ससार ही दु·ख रूप है जहा प्राणी सकलेश को प्राप्त होते हैं। तो जब जन्म दु.ख रूप है तो फिर इस जन्म दिवस पर खुशी क्यों ? साथ ही मैं चिन्तन करता हू कि जन्म सभी को अच्छा लगता है फिर शास्त्रकारों ने उसे दु.ख रूप क्यों माना ? तीर्थकरों का जन्म तो नारकीय जीवों को भी शान्ति प्रदान करने वाला है। जब तीर्थंकर महाप्रभु जन्म लेते हैं तो एक क्षण के लिए नारकीय जीवों को भी शान्ति की अनुभूति होती है तब फिर जन्म को दु.ख रूप क्यों कहा गया है ?

चिन्तन की मीमासा में मैंने 'जन्म' शब्द पर कई बार विचार किया तो अनुभूति हुई कि जन्म एक प्रकार का नहीं है। एक जन्म होता है माता की कुक्षि से, वह जन्म दैहिक जन्म है। वैदिक सस्कृति में जनेऊ सस्कार करने पर दूसरा जन्म माना गया है। इसलिए वहा ब्राह्मण को 'द्विज' कहा जाता है। एक बार मा की

कुक्षि से दूसरी बार जनेऊ सस्कार के कारण जन्मा हुआ ब्राह्मण द्विज कहलाता है। साधक अवस्था की दृष्टि से भी पोशाक परिवर्तन दूसरा जन्म कहा जा सकता है। मा की कुक्षि से जन्म लेना सभी के लिए दु.ख रूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि तीर्थकरो का तो मा की कुक्षि से जन्म लेना भी दु·ख रूप नहीं है। क्योंकि उनका जन्म होता है– अपूर्व देह धारण रूप। उस जन्म में उनकी मा को किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती। तब भला कैसे यह जन्म दुःख रूप है ? इसका समाधान है–जो जन्म, जन्म और मरण की प्रक्रिया को बढ़ाने वाला है, वही जन्म वस्तुतः दुःखरूप है। महापुरुषों का अपूर्व देह धारण रूप दु ख रूप नहीं होता अपितु वह तो सर्वलोक मे शाति प्रदायक होता है। अपूर्व देह धारण का तात्पर्य जिस शरीर में रहते हुए अपूर्व कार्य किया जाए, वही देह अपूर्व है। और ऐसा जन्म सुखावह है।

देह के बिना कोई भी आत्मा मोक्ष की साधना नहीं कर सकती। अत· जिस देह से अपूर्व मोक्ष की आराधना हो वही अपूर्व देह है। आचार्य भगवन का यह जन्म अपूर्व देह धारणा रूप है। क्योंकि *ठाणाग सूत्र* में बतलाया गया है कि आचार्य अम्लान भाव से चतुर्विध सघ की धारणा, वारणा, सारणा करता है तो उसी भव मे या अधिक से अधिक तीन भव में अवश्य मोक्ष पहुचता है। अत. आचार्य भगवन का यह जन्म-दिवस अपूर्व देह धारण रूप होने से हम सभी के लिए खुशी का कारण है।

ऐसे कई प्रसग आचार्य भगवन के जीवन के हैं जिनसे उनके जीवन की गहन सूझबूझ परिलक्षित होती है। बचपन की उम्र में भी बुद्धि का विशाल वैभव था आचार्य भगवन के पास। जब अपने चचेरे भाई कन्हैयालाल जी के साथ साझे का व्यापार किया तब आचार्य भगवन ने सोचा कि साझे का व्यापार अत्यन्त खतरनाक है, यदि उसमें एक दूसरा-एक दूसरे के आशय को न समझे तो कार्य चल नहीं सकता। अत. आचार्य भगवन ने उस समय कन्हैयालाल जी से कहा–देखो, मुझे गुस्सा आये तो आप चुप रहना और आप को गुस्सा आये तो मैं चुप रहूंगा। इससे अपने कार्य में कोई बाधा नहीं आयेगी। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव ने किशोरावस्था मे ही विलक्षण निर्णय लिया था। इसके अलावा भी उनके अनेक गुण आत्मा मे अनन्त आकर्षण पैदा करते है।

आज के इस भौतिक युग मे ममतामयी, वात्सल्यमूर्ति मा का विरले ही

सम्मान करते हैं, विरले ही उनके वात्सल्य की कीमत करते है वहा आचार्य देव का चिन्तन इस विषय मे निराला ही रहा। उन्होंने मा के वात्सल्य की सदैव पूजा की थी। आचार्य देव सदा अपनी मा के हाथ से ही जीमते थे। मारवाड़ में एक कहावत भी है *'जीमणो मा रे हाथ रो हुवो भले जहर ही।'* एक बार उनके पिताजी ने कहा– *'बेटा, मेरे हाथ से जीम ले।'* आचार्य भगवन ने इन्कार कर दिया कि नहीं मैं तो मा के हाथ से ही जीमूगा।

जितना आचार्य देव का मा के प्रति पूजा का भाव था, मा का भी उनके प्रति अपूर्व वात्सल्य था। आचार्य भगवन के दीक्षित होने के बाद भी मा अपने लाल को 'नाना' (छोटा) ही समझती थी। जिस समय आचार्य भगवन को युवाचार्य पद मिला उस समय मातु अगारा ने पूज्य गुरुदेव स्व गणेशाचार्य से निवेदन किया *'ओ म्हारो नानो छोटो है इने अतरो कतरो भार दे इ दियो।'* कितना गहरा वात्सल्य मा का पुत्र के प्रति। यह वात्सल्य ही आचार्य भगवन के अनूठे जीवन की ओर हमारा ध्यान इगित करता है। उस मा अगारा नें जन्म देते समय शायद यह नहीं सोचा होगा कि मेरा यह लाल शाहों का शाह नहीं लेकिन बादशाहों का बादशाह बनेगा। शाहों का शाह बन्धुओं का बादशाह होता है किन्तु बादशाहों का, बादशाह होता है फकीर (साधु)। प्रकृति का खेल वस्तुत निराला ही है।

ज्योतिष के धरातल पर विचार करता हू तो चिन्तन होता है कि सूर्य कहता है चन्द्रमा से कि मेरे शासन में तेरा तेज धूमिल हो जायेगा। इस पर चन्द्रमा कहता है कि सूर्य ! तेरे शासन में तो सिर्फ मेरा तेज ही धूमिल होगा लेकिन मेरे शासन में तो तेरा प्रवेश ही नहीं होगा। ज्येष्ठ मास का सूर्य कितना तेजस्वी होता है, इसी के शासन में आचार्य देव का जन्म हुआ। लेकिन तारीख के हिसाब से विचार करते हैं तो 19-20 जून आती है जिसमें सूर्य का तेज थोडा कम हो जाता है। उस समय इस अध्यात्म सूर्य का जन्म कैसा सुहावना रहा होगा। तभी आज ये बादशाहों के बादशाह नजर आ रहे हैं। जिन्होंने सघ-हित, समाज-हित में सारा जीवन दान कर दिया पर कभी अधिकारों की माग तक नहीं की।

इस सदर्भ में एक प्रसग उल्लेखनीय है कि एव बार ईसा मसीह के पास दो भाई जमीन के झगडे को लेकर पहुचे। एक ने कहा– 'उस जमीन पर मेरा अधिकार है।' दूसरे ने कहा-मेरा।' ईसा मसीह ने शान्त भाव से दोनों की बातें सुनी, फिर कहा– 'चलें, उस जमीन के पास, वहीं तुम दोनों का फैसला करूगा।' तीनों जने

उस खेत में पहुंचे। ईसा ने मिट्टी का एक ढेला उठाया, उसे अपने कान तक ले गये और कुछ समय पश्चात् दोनों भाईयों से कहा कि जिस जमीन पर तुम अधिकार जता रहे हो, उस जमीन की मिट्टी का ढेला तो कुछ और बात ही कह रहा है। दोनों ने आश्चर्य व्यक्त किया तो ईसा ने कहा– यह मिट्टी का ढेला कहता है कि इन दोनों भाईयों पर मेरा अधिकार है। मैंने इनका पालन पोषण कर इन्हें बड़ा बनाया है। आज भी वही बात हमारे सामने है कि आचार्य भगवन पर हम सब अधिकार जताते हैं लेकिन कितने निस्पृह हैं– आचार्य भगवन, जिन्होंने कभी अधिकार की अधिकार रूप में माग नहीं की। अधिकार की माग किये बिना ये अपने जीवन में ममता, समता और क्षमता की त्रिपुटी बहा रहे हैं। सन्तों की देखभाल जिस समय करते हैं वहा ममता की धारा, अनेक भीषण बाधाओं का सामना करते समय समता की धारा तथा कार्य करते समय क्षमता की अपूर्व धारा के दर्शन इनके जीवन में होते हैं।

स्थ. प्रमुख श्री ज्ञान मुनि जी म. सा. आचार्य देव की क्षमता के बारे में कई बार फरमाते हैं कि आचार्य भगवन् के दिमाग में जो बात जच गई उसे वे सम्पूर्ण करके ही छोड़ेंगे चाहे देर-सवेर ही क्यों न हो। ऐसे सम्यक् गुणापुञ्ज आचार्य देव का कितना भी गुणगान क्यो न किया जाए वह कम ही है। अतः अन्त में कुछ कडियों का उच्चारण करता हू–

नाना गुरु नो जन्म दिवस छे, साभलजो नरनार।
[illegible] गुरुवर करसे भवती पार।
धन्य है मा अगारा दे तुमको अवतार
गुरुवर करसे भवती पार....

आचार्य देव का वरद हस्त युगों-युगों तक बना रहे और दिव्य ज्ञान रश्मिया निरन्तर विकीर्ण होती रहें, यही कामना है।



भावना, भक्ति और जीवन

परमात्मा की स्तुति श्रद्धा और भक्ति के साथ की जाती है। भक्ति यदि हृदय में न हो तो भाव मुखरित नहीं हो सकते। भक्ति भाव वास्तव में हृदय का वह आवेग है जो अनन्य श्रद्धा से उपजता है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भी कहा गया है– *'सत्वानुरूपासर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ·'* अर्थात् सभी मनुष्यो की श्रद्धा उनके अत करण के अनुरूप होती है। जैसी श्रद्धा जिसके हृदय मे होती है वह स्वय भी हृदय से वैसा ही होता है। परन्तु अपने हृदय की वृत्तियों को समझ पाना जटिलतम कार्य है। कोई कार्य अथवा विशिष्ट प्रकार का व्यवहार कोई व्यक्ति क्यों कर जाता है यह उसके स्वय के लिये भी समझ पाना कठिन होता है। भक्ति तो एक प्रवाह है यदि वृत्तियाँ अनुकूल हों तो उसमें बहते देर नहीं लगती। प्रश्न यह है कि भक्ति किस प्रकार से की जाय। भक्ति की अनेक विधियाँ हैं। नवधा भक्ति की महिमा तो सतों ने मुक्तकण्ठ से गाई है। एक भक्ति भीलनी शबरी की थी जिसके जूठे बेर मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने अत्यत स्वाद पूर्वक खाये थे। एक भक्ति महात्मा विदुर की थी कि कृष्ण ने दुर्योधन के महल के पकवान छोड कर *'साग विदुर घर खायो।'* भक्ति के पीछे जिस प्रेम की शक्ति होती है उसमें सम्पूर्ण भाव निहित होता है।

मीरा का दाम्पत्य भाव, तुलसी का दास्य भाव और सूर का साख्य भाव, प्रेम की ऐसी ही समर्पित शक्ति के कतिपय उदाहरण हैं। ऐसा नहीं है कि ये भक्ति पद्धतियाँ अपने आप में पूर्ण स्वतंत्र हैं और एक का दूसरे की परिधि में प्रवेश सर्वथा वर्जित है । भावना के आवेग को सीमा अथवा स्वरूप मे कोई नहीं बाँध सकता इसलिये हृदय की भिन्न स्थितियों में भाव के भिन्न रग दिखाई दे सकते हैं। किसी

एक रग से जिस प्रकार प्रभावी चित्र नहीं बन सकता उसी प्रकार भक्ति की एक भगिमा हृदय की सम्पूर्ण भावना को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। कबीर जब कहते हैं–

> 'गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागू पाय।
> बलिहारी गुरु आपकी गोबिन्द दियो बताय॥'

तब लक्ष्य तो गोविन्द ही होता है,गुरु की सहायता के बिना उसे न पहिचाना जा सकता है न प्राप्त ही किया जा सकता है।

सम्पूर्ण समर्पण मुख्य वस्तु है जिसका एक प्रतीक है चातक जो स्वाति नक्षत्र में बरसे जल के अतिरिक्त और कोई जल नहीं पीता। तुलसी ने उसके ऐसे समर्पित प्रेम का गान करते हुए *'चातक चौतीसी'* लिखी है। चातक के जिस प्रेम की महिमा गाई गई है वह इतना उत्कट है कि प्यास से मरता चातक अत समय में गगाजल-पान से भी अपने को बचाता है–

> बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल उलटि उठाई चोच।
> तुलसी चातक प्रेमपट मरतेहु लगी न खोंच॥

इस प्रकार मुख्य बात भावना की है। व्यक्ति अपने शरीर को सजाना चाहता है, आभूषण पहिनता है। पहले नाना प्रकार के आभूषण धारण करना सम्पन्नता का ही नहीं सौभाग्य का प्रतीक भी माना जाता था। अब स्थिति बदल गई है। हत्या, चोरी, डकैती एव अन्य प्रकार के अपराध बढ़ गये हैं अतः आभूषण पहन कर निकलना खतरे से खाली नहीं है इसलिये भले ही कोई आभूषण पहन कर न निकले परन्तु आभूषणो के प्रति मोह में कोई कमी नहीं आई है। व्यक्ति आभूषण बनवा कर घर में रख लेता है और सन्तुष्ट हो जाता है। अब तो घर में भी नहीं बैक में लॉकर में आभूषण पडे रहते हैं और व्यक्ति तृप्त रहता है। यह भावना की बात है अन्यथा उनके सग्रहण में तो कमी आनी ही चाहिये थी। पर ऐसा हुआ नहीं। यह हुई प्रेम या भावना के साथ विवेक के जुडे होने की बात। जब गाधी जी खादी के प्रचार पर बल दे रहे थे और खादी बुनने और पहनने को भारतीय जीवनचर्या का अग बता रहे थे तब एक व्यक्ति उन्हें एक कीमती विदेशी शाल भेंट करने आया। वह गाधीजी का अनन्य भक्त था और अपनी श्रद्धा के प्रतीक के रूप में ही वह शाल देना चाहता था। परन्तु उसका विवेक अनुशासित नहीं था अन्यथा वह यह ध्यान रखता कि गाधीजी किस प्रकार की भेंट स्वीकार करेंगे।

भक्ति और वदना में महत्त्वपूर्ण बात त्याग की भी है। मन में अहकार हो तो भक्ति और वन्दना का अभिप्राय ही समाप्त हो जाता है। कवि रहीम ने कहा है– *'लघुता ते प्रभुता मिले, प्रभुता ते प्रभु दूर। चींटी लै शक्कर चली, हाथी के सिर धूर।'* भक्त की आखिर कुछ चाह होती है, वह निश्चय ही कृपा, दया अथवा अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है अर्थात् उसकी कुछ अपेक्षा होती है। जो किसी से अपेक्षा रखता है वह स्वय कहीं अक्षम अथवा असहाय होता है क्योंकि शाहन के शाह तो वे होते हैं *'जिनको कछू न चाहिये।'* परमात्मा से अपेक्षाए तो बहुत करें और अपने अह की रक्षा भी करें, दोनों बातें कैसे निभ सकती हैं ? यहीं धर्म की बात आती है क्योंकि धर्म जीवन के शाश्वत सत्य से परिचय कराता है। प्रत्येक व्यक्ति मगल चाहता है, कल्याण चाहता है। धर्म के माध्यम से यही सिद्ध भी होता है। कहा भी गया है कि धर्म मगल करता है। परन्तु धर्म मगल तब करता है जब उसका अनुसरण हो, उपयोग हो। बोतल में भरी औषध और पात्र में रखा दूध तब तक फल नहीं दे सकते जब तब उनका सेवन न किया जाय, पास में बर्तन में पडे रहने से किसी का लाभ नहीं मिल सकता। इसी प्रकार यदि धर्म को जीवन और व्यवहार का आधार न बनाया जाय तो वह भी मगलकारी नहीं हो सकता। केवल धर्म के आदर्श और उसके दर्शन की बातें करने से उसका फल नहीं मिल सकता। विभक्त कर सकते हैं– त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, सज्ञी और असज्ञी, अल्प ससारी और अनन्त ससारी, सुलभ बोधि और दुर्लभ बोधि, कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी, भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक हारक एव आहारक और अनाहारक। वैसे ससारी जीवों की चार श्रेणियाँ मानी गई है– (1) प्राणी–विकलेन्द्रिय याने दो, तीन व चार इन्द्रियो वाले जीव, (2) भूत– वनस्पति काया के जीव, (3) जीव–पचेन्द्रिय प्राणी तथा (4) सत्त्व– पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के स्थावर जीव। इस ज्ञान के कारण जीव को विज्ञ, तो सुख दुःख की सवेदना के कारण उसे वेद भी कहते हैं। ये ससारी आत्माएँ विभिन्न श्रेणियों के रूपो में ढलती, बनती, बिगडती, उठती, गिरती नित नूतन रचनाएँ करती रहती हैं और इस ससार को अपने ससरण से ससार बनाती रहती है।

मैं आज ससारी जीव हूँ और सासारिकता से जुडा हुआ हूँ। किन्तु जब अपनी साधना के बल पर मैं इस ससार से मुक्त हो जाऊँगा तब सिद्ध बन जाऊँगा। तो समस्त जीवों के मोटे तौर पर दो वर्ग मान लीजिये– ससारी और सिद्ध। सिद्ध होने का अर्थ है ससार से मुक्त हो जाना– ससार की ससरण प्रक्रिया से सर्वथा सदा के

लिए विलग हो जाना। आत्मा मुक्त होती है ससार से, इस ससार से जो चेतन-जड सयोग पर टिका हुआ है। अतः मुक्ति का मतलब है– चेतन का जड़ से सभी प्रकार के सम्बन्धों को सदा-सदा के लिए तोड़ देना। जब तक चेतन जड के साथ सम्बन्धित रहता है तब तक ही उसके लिये यह ससार है और उस दशा में किये जाने वाले कर्मो के फलाफल के अनुसार उसे इस ससार मे भ्रमण करना ही होता है।

मैं चैतन्य देव हूॅ। मेरी आत्मा अनन्त चेतना शक्ति की धारक है किन्तु जड़ तत्त्वों के साथ बधी हुई है– शरीर में स्थित है। जड-चेतन सगम स्वरूप यह शरीर अपने मन, वचन, काया के जिस प्रकार के यौगिक व्यापार में विचरता है तथा जिस प्रकार तज्जन्य विचार और आचार से सक्रिय होता है, उसी सक्रियता के परिणामस्वरूप शुभ अथवा अशुभ कर्मों से यह आत्मा बद्ध होती है। आत्मा का शरीर मृत्यु के उपरान्त बदल जाता है किन्तु बिना अपना फलभोग दिये निकाचित कर्म नहीं बदलते। वे कर्म आत्मा से जुडे रहकर इसके शरीर की अवस्था मे भी यानी कि भावी जीवन में भी अपना शुभ अथवा अशुभ फल देते हैं। कर्म और फल का चक्र चलता रहता है जब तक कि कार्य-कारण रूप इन दोनों को पूर्णतः समाप्त नहीं कर दिया जाता। अत· कर्म के चक्र में मैं ससार बनाता हूँ। कर्म-चक्र की समाप्ति के साथ ही जड चेतन सयोग टूट जायेगा तथा 'मैं' ससार से भी नाता तोड़ दूगा। तब 'मैं' शुद्ध स्वरूपी सिद्ध बन जाऊगा।

इसलिए 'मैं' ही ससार हूॅ और जब मैं ही अपने आत्म पुरुषार्थ की उच्चतम सफलता साध लूगा तो समझिये कि 'मैं' ही सिद्ध हो जाऊँगा।

कल्पना करे कि एक बहुत बडी नदी बह रही है, एक प्यासा उसके पास पहुचता है। वह जल पीकर प्यास तो बुझाना चाहता है परन्तु जल का स्पर्श नहीं करना चाहता। ऐसी स्थिति मे उसकी प्यास कैसे बुझ सकती है और नदी के जल का भी क्या उपयोग या लाभ हो सकता है ? धर्म को यदि मगलकारी बनाना है तो उसके लिये आधारभूमि तैयार करनी पड़ेगी । आगमों में अनेक स्थानों पर सूचना मिलती है कि श्रावक यदि प्रभु के समवसरण मे पहुचता है तो उसे पॉच अधिगमन करने होते हैं, पॉच प्रकार की मर्यादाओं का पालन करना होता है। यदि वह उन पॉच मर्यादाओं का पालन नहीं करता और परमात्मा की भक्ति करना चाहता है तो समझो कि वह अपने शरीर पर आभूषण तो धारण करना चाहता है परन्तु वस्त्र नहीं

पहनना चाहता है। वस्त्ररहित शरीर पर आभूषण क्या कभी सुन्दर लग सकते हैं ? ऐसा प्रयास करने वाले को क्या कोई विवेकशील कह सकता है ?

आधारभूमि के निर्माण के लिये सबसे पहले अधिगमन है सचित का त्याग, दूसरा अचित का विवेक और तीसरा उत्तरासन। इन पर मात्र विचार करने से काम नहीं चलेगा, इन्हें आचरण में लाना होगा। सचित का त्याग कैसे होगा, अचित का विवेक किस प्रकार होना चाहिये। इन विचारों का परिणाम कैसे निकलेगा ? कोई भी व्यक्ति अहकार के वशीभूत होकर यदि समवसरण में प्रवेश करे अर्थात् उसके मन में यह भाव रहे कि मैं राजा हू तो वीतराग के उपदेश उस पर कैसे प्रभाव डाल पायेंगे ?

दूसरे भूतों से व्यक्ति डरे या नहीं, यह अलग बात है परन्तु अपने भीतर के भूत से उसे डरना चाहिये क्योकि यदि वह सक्रिय रहा तो परमात्मा की भक्ति से अवश्य ही वचित रह जायेगा। जहाँ पर समवसरण देखता है, अपने वाहन का वहीं त्याग करता है। अहकार का पोषण करने वाले जो अन्य उपादान हैं, उनका भी समवसरण से बाहर ही विसर्जन करता है, तब उसके मन में झुकाव आता है और तब कहीं जाकर उसकी वदना की भूमिका सार्थक बन पाती है। भीतर जब झुकाव आता है तब मस्तक स्वत ही गुणीजनों के सम्मुख झुक जाता है।

लोग पूछ सकते हैं उत्तरासन धारण करने का क्या लाभ ? लाभ है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका बहुत लाभ मिलता है। विचार करे, एक छोटा बालक है जो अपने मन के अनुसार चलता है परन्तु रोकने पर रुक जाता है, वह यदि आपकी घडी ले ले तो क्या आप वह उसके हाथ में रहने देगे। वह कभी भी गिरा कर तोड सकता है। इसलिये आप उसे अन्य कोई वस्तु देकर उसका ध्यान बटा देते हैं और घडी उससे ले लेते है। उस बालक को बाद में घडी में ध्यान भी नहीं रहता और वह आपके पास सुरक्षित हो जाती है। यही बात हमारे साथ है। भागते दौडते आते हैं और महाराज के व्याख्यान में बैठ जाते हैं। जैसे ही आप सतों के स्थान के निकट आते है तो तैयारी हो जाती है। एक के बाद एक नारे लगाये जाते हैं परन्तु क्या इससे गुरु प्रसन्न हो जाते है अथवा अभीष्ट मानसिकता बन जाती है ? महत्वपूर्ण यह है कि जिस स्थान पर जायें वहॉ की मर्यादा का ध्यान रखें। जैसे कुल की रीति होती है उससे विपरीत कार्य करने वाला कुल में खप नहीं पाता उसी प्रकार धर्म स्थानों अथवा सतों के स्थानों की भी रीति होती है। उस रीति का पालन ही

मर्यादा का पालन है जो व्यक्ति को महान बनाता है। भगवान राम को तो मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है, उनके कार्य मर्यादा का मापदण्ड हैं। ऋषि वाल्मीकि ने भगवान राम का धर्म का मूर्तिमान रूप इसीलिये कहा था–

'रामो विग्रहवान धर्म' (अरण्य 38/18), धर्म का इस रूप में पालन करने वाला व्यक्ति हर कहीं और हरेक द्वारा आदरित होता है। वह कहीं भी और किन्हीं के बीच भी खप सकता है। राजस्थान के व्यापारी देश के प्रत्येक कोने में गये, जहॉ गये वहा के लोगों के साथ घुलमिल गये। उनकी इसी क्षमता या समझ ने उन्हें सभी जगह स्वीकार्य बना दिया।

स्थान की मर्यादा का पालन इसलिये आवश्यक है कि वह जीवन के लिये वातावरण एव परिस्थितियों को अनुकूल बना देता है। धर्म की पालना के लिये जीवनभूमि समतल बनानी होगी। बालक के हाथ से घडी लेनी हो तो उसका ध्यान दूसरी ओर मोडना होगा। धर्म में मन लगाना हो तो मन की वृत्तियों को भी मोडना पडेगा। इसीलिये बताया गया है कि जहॉ पर समवसरण दिखाई देने लगे वहीं से वाहन का त्याग कर देना, अहकार का त्याग कर देना, उस प्रत्येक वस्तु का त्याग कर देना जो प्रभाव डालने वाली हो, तथा सचित और अचित का त्याग कर देना आवश्यक है। इससे हमारी भावना-बुद्धि धर्मग्रहण के अनुकूल बन जाती है। धर्म सम्पूर्ण शरीर मे तथा हड्डियो के भीतर मज्जा में भी समा जानी चाहिये। यह सचित और अचित के उचित विवेक तथा अहकार के नाश से ही सभव होता है। उत्तरासन मुह पर आते ही मन में यह विचार आता है कि 'मैं अन्य लोगों से भिन्न हू– श्रमणोपासक हूँ।' वह एक पहिचान भी बनाता है और दूसरों को वैसा बनने की प्रेरणा भी देता है। इस प्रकार धर्म की पालना के अनुरूप वातावरण बनता है। यह श्रावक धर्म भी है। श्रावक यदि साधु जीवन को श्रेष्ठ मानता है तो जो सिद्धान्त और मर्यादाए है उनका उसे विधिवत पालन करना चाहिये। श्रावक से उनका पालन कराना, भले ही उसे बुरा लगे, साधु का भी कर्त्तव्य है। बालक यदि पाठशाला नहीं जाता तो उसे जबरदस्ती भेजना माता-पिता का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार धर्म के मार्ग पर अग्रसर करना, मर्यादाओं के प्रति सजग करना, साधु का कर्त्तव्य है। जीवन इसी प्रकार सुधरता है। यह भावना की बात है जो भक्ति की जननी होती है और दोनों का सम्मिलन गुरु-कृपा से जीवन को सवार कर, उसे सिद्धि के लक्ष्य की ओर उन्मुख करती हैं। □

सफल जीवन का मंत्र

जीवन सफल बनाना, बनाना प्रभु वीर जिनराज जी।
मन मदिर मे घुप्प अधेरा, ज्ञान की ज्योति जगाना जी॥

हम प्रभु से जीवन सफल बनाने की कामना करते हैं और स्वीकार करते हैं कि हमारे मन में घोर अधकार अर्थात् अज्ञान है। जब मन में घोर अधकार है तो जीवन सफल कैसे बन सकता है ? और जीवन को सफल बनाने के लिए प्रतीक्षा भी कब तक की जा सकती है क्योंकि समय तो अबाध गति से बहा चला जा रहा है, वह न रुकता है न उसे कोई रोक सकता है, जीवन सफल नहीं बन पा रहा है तो वह रुकेगा थोडे ही। तब फिर जीवन सफल बनाने के लिए बिना अधिक समय खोये तुरन्त ही प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। इस हेतु प्रभु की कृपा भी आवश्यक है। प्रभु की कृपा हो और मनुष्य प्रयासरत हो तो क्या प्राप्त नहीं किया जा सकता ? जीवन को सफलता की ओर ले जाने का इससे अच्छा और कोई मार्ग नहीं है। परन्तु प्रभु की कृपा तब फलवती होती है जब प्रयास किये जायें, पुरुषार्थ किया जाये क्योंकि सोते हुए सिह के मुँह में हिरन स्वय तो घुस नहीं जाता। सामने परोसे गये व्यजन भी तृप्ति तभी प्रदान करते हैं जब उन्हें हाथ से उठा कर मुँह में रखने का उपक्रम किया जाय।

जीवन की सफलता अथवा फल की प्राप्ति के लिए भगवान महावीर ने *उत्तराध्ययन सूत्र* में एक सूत्र दिया है–*'असख्य जीविय मा पमायए'*। वे कहते हैं कि प्रमाद मत करो क्योंकि तुम्हारा जीवन असस्कारित है। संसार में महिमा केवल सस्कारित की है। असंस्कारित धान यदि पेट में चला जाये तो वह शरीर को पुष्ट

करने की अपेक्षा रोग उत्पन्न कर देता है। स्वर्ण जैसी मूल्यवान धातु का मान, मूल्य और सौंदर्य तभी बढ़ते हैं जब वह आग मे तपा कर संस्कारित किया जाता है। इस हेतु उसे तप, छेद और कस, इन तीन अवस्थाओं से गुजरना पडता है।

सस्कार जब इतने महत्वपूर्ण हैं तब हम देखें कि हमारा जीवन कैसा है, हम कैसे सस्कारो में जी रहे है, क्या हम स्वय सस्कारित होने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं और क्या हमें सस्कारित बनने की चिन्ता भी है ?

हम स्वय को सभ्य नागरिक समझते हैं और ग्रामो अथवा जगल मे निवास करने वालो को असभ्य अथवा असस्कारित कह देते है। आखिर ऐसा हम क्यों कह देते हैं ? केवल बाहर से उन्हें देखकर। उनमें शिक्षा नहीं है, वे अधविश्वासी हैं, उनकी रुचिया और आदते परिष्कृत नहीं हैं और वे शिष्ट और मिष्ट भाषा का प्रयोग करना नहीं जानते, जैसा मन मे आता है बोल देते है। तो ये सब तो उनको असस्कृत कह देने का आधार नहीं है क्योंकि इस दृष्टि से नगरों में रहने वाले तथाकथित प्रगतिशील लोग कहीं अधिक असस्कारित हैं। हम देखे कि उनमें विद्या के साथ विनय आती हैं ? क्या नया वैज्ञानिक चिन्तन उन्हें मानवतावादी बनाता है, क्या अच्छी, सुन्दर, उपयोगी और मूल्यवान वस्तुए रख कर वे व्यवहार में भी वैसे ही सुन्दर, दयालु और सवेदनशील बन पाते है ? ऐसा तो कहीं नहीं है कि– *'स्वर्ण की जजीर पहने श्वान फिर भी श्वान है'।* कहीं शिष्ट और मिष्ट भाषा के पीछे उनके मन की कुरुचि, स्वार्थपरता, छल और चालाकी तो नहीं झाक रही है ? ये सब सोचने की बाते हैं क्योंकि पाखण्ड कभी सस्कृति नहीं बनता और सरलता एव सहजता सदा सस्कारहीनता के चिन्ह नहीं होते।

एक छोटे से उदाहरण द्वारा इस स्थिति को स्पष्ट किया जा सकता है। आप टी.वी. के कार्यक्रम देख रहे हैं, क्या आप या आपके बच्चे या आपके बुजुर्ग या घर की स्त्रिया इस बात की चिन्ता करती हैं कि कैसे कार्यक्रम वे सभी एक साथ बैठ कर देख रहे हैं ? कार्यक्रम चाहे फूहड हों चाहे अश्लील, चाहे दम्भ, पाखण्ड, हिसा और व्यसनों को प्रदर्शित करने वाले हों, सब एक साथ बैठ कर देखते हैं। क्या ऑखों की लज्ञा, उचित-अनुचित का विवेक और मन का सकोच, उनमें से किसी को कचोटता है कि वैसे कार्यक्रम या विज्ञापन साथ में बैठ कर देखना उचित नहीं हुआ। क्या हम बच्चों पर पडने वाले दुष्प्रभाव और नारियों के शील को प्रभावित करने वाली स्थितियों को रोक सकते हैं ? फिर यदि अपराध, व्यसन, निर्लज्ञता

और अशिष्टता का समाज में प्रसार हो तो उसके लिये दोषी कौन हुआ ? प्रचार-प्रसार माध्यमों को अत्यत सस्कारित होना चाहिए परन्तु जब उनके द्वारा परोसी गई असस्कारित सामग्री का समाज उपभोग करेगा तब उसका स्वास्थ्य चौपट हो तो आश्चर्य कैसा ? समाज में बढ़ते अपराध, व्यसन, असुरक्षा-भाव, अनैतिकता, अशाति और असतोष अस्वस्थकर सामग्री को बिना विचारे उदरस्थ कर जाने का ही परिणाम है।

हमें अपने सस्कारों की ओर देखना है। एक पिता बड़ी-बडी अभिलाषाएँ सजोता है– मेरा पुत्र बडा होकर शिक्षित, विद्वान, उदार, त्यागी बने अथवा अफसर, व्यापारी, नेता बने, परन्तु क्या वह यह देखता है कि उसकी स्वय की मानसिकता अथवा चरित्र कैसा है ? व्यसनी, अपराधी अथवा भ्रष्ट पिता अपने पुत्र में कभी अच्छे सस्कार डाल ही नहीं सकता। बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति तो होती है, अपने आस-पास का वातावरण भी उसे गभीरता से प्रभावित करता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि उनका 'जीवन सफल' बने, सस्कारित बने, तो पहले हमें भी अपना जीवन सस्कारित करना होगा।

आज एक आम प्रवृत्ति बन गई है– परिस्थितियों को दोष देने की। हम कह देते हैं कि हम क्या करे, कुँए में ही भॉग पडी हुई है, सारा वातावरण ही दूषित है। परन्तु यह न समस्या का समाधान है न हमारी सदाशयता की सीमा। यदि एक-एक व्यक्ति यह विचार कर ले कि मुझे गलत काम नहीं करना है, व्यसनों के निकट नहीं जाना है, अपनी आदतें नहीं बिगाडनी हैं, तो निश्चित है कि इसका प्रभाव हमारे आस-पास भी पड़ेगा। यह याद रखने की बात है कि सद्वृत्तियाँ भी सक्रामक होती हैं। और चूकि मनुष्य के पास हृदय होता है जिसमें भावनाएँ पनपती हैं, आत्मा होती है जिसमें कचोट होती है, जो सद्-असद् का विवेक करने की शक्ति देती है और चूकि वह सवेदनहीन पशु नहीं होता इसलिए वह सद्वृत्तियों को अपनाना चाहता है, यह दूसरी बात है कि अनेक कारणों से वह भटक जाता हो। पर इस भटकन का इलाज है– प्रेरणा। हमें ज्ञात है कि प्रेरणा मनुष्य की वृत्तियों में आमूलचूल परिवर्तन ला सकती है।

इस दृष्टि से परिवार मे पिता अथवा मुखिया का वहुत वड़ा दायित्व होता है। उसके लिए आवश्यक है कि वह स्वय न भटके, अपनी वृत्तियों को सस्कारित करे और अन्य सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत बने। वड़ों में धार्मिक आस्था प्राथमिक

आवश्यकता है। वे स्वयं स्वाध्याय करे और ज्ञान-सम्पन्न हो। परिवार के अन्य जन स्वतः ही उनका अनुकरण एव अनुसरण करेगे। हमारे समाज मे स्वाध्याय की परम्परा लुप्त होती जा रही है, उसे पुनर्जीवित करना आवश्यक है। सत्-साहित्य का प्रचार सद्वृत्तियों के निर्माण में योग देता है। आजकल जो सस्ता साहित्य चल पडा है वह सुरुचि उत्पन्न करने वाला नहीं होता। व्यापक प्रचार के लिए उसे हल्का, वनाया जाता है। इस प्रकार मनोरजन के स्तर में भी गिरावट आई है। इस स्थिति के प्रति भी सतर्क रहने की आवश्यकता है।

तो बात जीवन को सफल बनाने की थी जिसके लिये प्रभु के आशीर्वाद और उसकी कृपा की आवश्यकता भी बताई गई थी। प्रभु तो परमदयालु है ही, उसकी कृपा तो सदा, सर्वत्र, सभी पर रहती है परन्तु उस पर सच्ची श्रद्धा भी तो होनी चाहिए क्योंकि कहते हैं– *'श्रद्धावान लभते ज्ञान विश्वास फलदायक'*, श्रद्धावान को ज्ञान प्राप्त होता है और विश्वास का फल प्राप्त होता है। परन्तु श्रद्धा और विश्वास के लिए मन का निर्मल होना अति आवश्यक है। मन निर्मल होता है, सुसंस्कारों से, सद्विचारों से और सद्–अभिलाषाओं से। इन तीनों का ध्यान रखें तो प्रभु की कृपा तो स्वतः प्रवाहित होगी ही। ज्ञान भी मिलेगा जो मन-मन्दिर मे व्याप्त घुप्प अधकार को दूर करेगा और जब प्रकाश अबाध गति से जीवन में प्रवाहित होने लगेगा तब जीवन निश्चय ही सफल वन जायेगा। यही तो हमारी कामना है।

❑

लघुता ते प्रभुता मिले

महिमा किस की अधिक है, राजा की या मुनि की ? दोनों मे बडा कौन है ? मुनि राजा को प्रणाम करेंगे या राजा मुनि को प्रणाम करेगा ? हम जानते हैं कि राजा मुनि को प्रणाम करेगा, अर्थात् मुनि की महिमा अधिक है, वह बडा है। उसका बडप्पन और उसकी महिमा उसके त्याग का प्रतिफल है। जिनेश्वर भगवान की प्रार्थना में भी कहा गया है–

श्री सुविधि जिणेसर बदिये हो
प्रभुता त्यागी राजनी हो लोधो सजम भार।

क्या वास्तव में उन्होंने प्रभुता त्यागी ? राज्य प्राप्त होने के कारण उन्हें जो प्रभुता प्राप्त थी क्या उसका उन्होंने त्याग किया ? कवि ने तो कह दिया कि उन्होंने प्रभुता का त्याग कर दिया किन्तु मेरा मत है कि उन्होंने प्रभुता का त्याग नहीं किया वरन् उससे बढ कर प्रभुता स्वीकार की, छोटी प्रभुता के बदले बड़ी प्रभुता स्वीकार की। जिस प्रभुता को वे स्वय नमन करते थे उस प्रभुता को, मुनि की प्रभुता को, उन्होंने स्वीकार किया। फिर कवि विनय चद जी ने प्रभुता-त्याग की बात क्यों कही ?

प्रभु महावीर की देशना के सदर्भ में इस पर विचार करें। अपने उपदेशों में उन्होंने समता अथवा साम्य को जो अनोखा सदर्भ प्रदान किया है उसे हम भले ही साम्यवाद न कहे परन्तु उनकी दृष्टि पूर्णत. सापेक्षवादी थी। ससार मे पद, प्रतिष्ठा और वैभव को प्रभुता के अर्थ में स्वीकार किया गया है। मुनिजनों को अकिचन कहा गया है– अकिचन अर्थात् जिसके पास कुछ भी नहीं हो। कुछ भी नहीं का मतलब

है साथ मे रखी जाने वाली वस्तु अथवा परिग्रह जिस पर ममत्व भाव हो। इस प्रकार साथ की किसी वस्तु पर वे अधिकार , प्रभुता अथवा स्वामित्व भाव नहीं रखते है। जिस वैभव से व्यक्ति के मन में गौरव एव अहकार की भावना जाग्रत हो जाती है उससे मुनिजन निर्लिप्त हो जाते हैं और तब ही वे उस प्रभुता को प्राप्त कर पाते है जिसके सम्मुख प्रभुता सम्पन्न राजे-महाराजे भी नतमस्तक होते है।

साधना का प्रभुता से बैर है। प्रभुता की भावना अहकार का सिचन और त्याग की भावना का उन्मूलन करती है। मुनिजनों को ज्ञानी लोग लघुभूत बताते हैं। प्रभुता का दूसरा अर्थ होता है– भारभूत, लघुता का दूसरा अर्थ होता है– हल्कापन। मुनिजनो को जो प्रभु महावीर ने 'लघुता बिहारी' कहा है तो इसका गूढ़ अर्थ है। मुनिजन एक स्थान पर पहुॅचते हैं, धर्म का उपदेश देते हैं, बोध देते है, और कल्पकाल पूरा होते ही वहॉ से विहार की तैयारी कर लेते हैं। इस प्रकार विहार करने से क्या उनके मन मे खेद नहीं होता ? बल्कि उपालभ यह सामने आता है कि विहार की जानकारी भी नहीं होने दी जाती और साय ही घोषणा हो जाती है कि कल विहार होगा। यह है लघुभूत बिहारी की स्थिति। मोह उनके पैरों में बेड़ियॉ नहीं डाल सकता। सामान्यजन के साथ यदि ऐसा हो तो वह सोचने बैठ जायेगा कि पीछे परिवार की जिम्मेदारी किस पर डालू, विभिन्न व्यवस्थाऍ कैसे करू आदि। परन्तु लघुभूत बिहारी का पीछे किसी भी प्रकार का कोई लगाव नहीं रहता।

जब हम साधना की बात करते हैं तब स्वीकार करना पडता है कि साधु और श्रावक दोनों साधक हैं, दोनो साधनावस्था में चल रहे होते हैं। साधना से धर्म में आस्था का विकास हो जाता है और धर्म के बारे में कहा गया है–

धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिसा सजमो तवो।

हमने स्वीकार कर रखा है कि धर्म मगल है, उत्कृष्ट है, श्रेष्ठ है, परम् है परन्तु क्या उस धर्म के आधार का भी हमें ज्ञान है ? यदि यह ज्ञान नहीं है तो धर्म का आचरण जीवन में कैसे हो सकता है ? यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि सिद्धान्त अपनी जगह पर होता है और आचरण अपनी जगह पर । सिद्धान्त जान लेने से उस पर आचरण नहीं हो जाता। आचरण भिन्न प्रक्रिया है जिसका सबध प्रकृति अथवा चरित्र से होता है। इसीलिये अध्ययन कर लेने का उपरान्त भी ज्ञान को आचरण में रूपान्तरित नहीं करने वाले के बारे मे कहा गया है–

भण्या पर गुण्या नहीं, रीते चूल्हे फूँका
गुरु बेचारा क्या करे, चेला माँही चूक॥

राख तो पडी है परन्तु उसमें आँच नहीं है। भीतर जो अगारा होना चाहिये जब वही नहीं है तो भूँगली से फूँक मारने से क्या लाभ, आग प्रज्वलित नहीं होगी। उसी प्रकार यदि हमने साधना का ज्ञान कर लिया परन्तु उसे आचरण में नहीं उतारा तो वह ज्ञान भारभूत अवस्था मे रहता है, उसका जीवन मे कोई उपयोग नहीं हो सकता। इसी सबध में एक प्रसग है–

जब चौदह वर्ष का वनवास-काल समाप्त कर भगवान राम अयोध्या लौटे तब अयोध्या की सम्पूर्ण प्रजा उनकी अगवानी हेतु उपस्थित हुई। रामजी पधारे, दरबार जुडा, प्रजाजन यथास्थान विराजे। भगवान राम ने सबको सबोधित कर प्रश्न किया– "आपके घरों मे अन्न तो प्रचुर मात्रा में है न ? आपको भोजन तो पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है न ?" प्रश्न अटपटा था, सारी प्रजा मौन रह गई। लोग सोचने लगे चौदह वर्ष वनवास किया है, अन्न नहीं मिला होगा, कन्दमूल फल से काम चलाया होगा इसलिये पूछ रहे हैं कि अन्न तो प्रचुर मात्रा में है ? भगवान उनकी दुविधा समझ गये परन्तु कुछ कहा नहीं। जब उनका राज्याभिषेक हो गया और उन्होंने शासन सम्हाल लिया तब उन्होने सभी अयोध्यावासियो को राजकीय भोज पर आमत्रित किया। सभी ने सोचा कि उनके राजा ने इतने सम्मान से उन्हें आमत्रित किया है तो भोज में चलना ही चाहिये। राजमहल के विशाल प्रांगण में भोज का आयोजन था। सभी लोग निर्धारित स्थान पर विराजमान हो गये, उनके सामने सोने के थाल रख दिये गये और परोसने वालों ने सभी के सम्मुख थालों में हीरे, मोती, माणक, पन्ने आदि परोस दिये। सब स्तब्ध, क्या बोले समझ मे नहीं आ रहा था। तभी भगवान ने उनके मध्य आकर भोजन प्रारभ करने का निवेदन किया। लोग सोचने लगे कि भगवान कहीं पागल तो नहीं हो गये, भला हीरे-मोती कहीं खाये जा सकते हैं ? राम के यह प्रश्न करने पर कि आप लोग भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं, एक वृद्ध ने साहस करके कहा, "दीनानाथ, थालों मे भोजन आया कहाँ हैं ? करे तो क्या करे ? ये हीरे, मोती, माणक आदि पेट भरने के काम के तो नहीं हैं।" तब राम ने स्पष्ट किया "मैंने आते ही आपसे प्रश्न किया था कि आपके घरों में अन्न प्रचुर मात्रा में है या नहीं। तब आपने सोचा, मुझे शायद अन्न न मिला हो। मुझे यह पूछना चाहिये था कि आप लोगों के पास धन-सम्पदा प्रचुर मात्रा में है

या नहीं। मैंने ऐसा नहीं पूछा क्योंकि इनसे पेट थोड़े ही भरता है। बस यही समझाने के लिये मैंने इस भोज का आयोजन किया था।"

तब स्पष्ट है कि धन, सम्पदा, वैभव से कुछ नहीं होता। उससे आत्म-सतोष और सुख नहीं मिलता। सुख-सन्तोष तो किसी अन्य वस्तु में निहित है। बस यही बात धर्म और आचरण के सबध में है। धर्म को मगलकारी कहा गया है परन्तु उसका आधार क्या है ? आधार है धर्म को व्यवहार बना लेना। व्यवहार में उतर कर ही धर्म मगलकारी बनता है। इस धर्म का प्रारभ प्रभुता-त्याग से होता है। इसीलिये व्यवस्था रही है कि जहॉ से समोसरण दिखाई देने लगे वहीं अपने वाहन रोक दो और पैदल चलकर समोसरण में पहुँचो। समोसरण भी एक योजन का होता था अर्थात् चार कोस पैदल चलो और आवश्यक नहीं कि प्रवेश द्वार आ ही जाये क्योंकि पुरुषो और महिलाओ के लिये अलग-अलग प्रवेश द्वार होगे तथा प्रत्येक दिशा में प्रवेशद्वार हो यह भी आवश्यक नहीं।

आचरण की बात यह भी है कि स्थान की मर्यादा का पालन किया जाय। धर्म स्थानों में, देवताओं के सम्मुख, सतों के निकट जाने की मर्यादाएँ होती हैं। इन मर्यादाओं के पालन से सस्कार विकसित होते हैं– यह साधना की प्रथम आवश्यकता है। कुसस्कार साधना में उसी प्रकार बाधा उत्पन्न करते हैं जिस प्रकार पूरी तरह न पकाई गई खिचड़ी पेट में शूल उत्पन्न कर देती है। प्रभु महावीर ने भी कहा है–" तुम साधना में लगे रहो किन्तु यदि तुम्हारा जीवन सस्कारित नहीं है और उसे साधना में लगाओगे तो वह कष्ट देगा।"

धर्म के आधार पॉच अधिगमन भी हैं जिनके सबध मे श्रावकों को सचेत रहना चाहिये। एक अधिगमन है कि वह कोई भी वस्तु जिसका साधु स्पर्श नहीं करते, जैसे इलायची, अन्न, फूलमाल, सेल वाली घडी आदि, साथ में रख कर भीतर प्रवेश न करें। दूसरा अधिगमन है अचित का विवेक अर्थात् ऐसी वस्तुओं का जिनसे अहकार का पोषण होता है, प्रवेश से पूर्व त्याग। एक अन्य अधिगमन है उत्तरासन का उपयोग। इनके अतिरिक्त समोसरण में प्रवेश के नियमों तथा आचार्य देव की वदना से सवधित परम्पराओं का पालन भी आवश्यक है। धर्म के इन व्यावहारिक पक्षो के प्रति मनुष्य को विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिये क्योंकि धर्म तभी मगलकारी होता है जव उसकी मर्यादाओं का पालन किया जाय। मनुष्य के धर्म के साथ इस प्रकार के सवध की वात को समझ लेना श्रावको की पहली चिन्ता होनी

चाहिये क्योंकि मर्यादाओं का पालन अहकार उत्पन्न नहीं होने देता। अहकार ही प्रभुता भाव बनकर साधना में बाधा उत्पन्न करता है जबकि लघुता भाव अपरिग्रही, त्यागी एव सयमी बनाये रख कर मनुष्य को धर्माचरण में प्रवृत करता है। यह धर्माचरण ही मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करता है। सच्ची प्रभुता उस उच्च पद को प्राप्त कर लेने में ही है जिसकी प्राप्ति के उपरान्त कुछ भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती– प्रभु से मिलन हो जाता है। लघुता की इसी महिमा को नीति के इस दोहे में स्पष्ट किया गया है–

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
चींटी शक्कर लै चली, हाथी के सिर धूर॥



तप साधना और समता भाव

जैन धर्म में तप को बहुत महत्त्व दिया गया है। तप का अर्थ है इच्छाओ का शमन कर अपनी समस्त शक्ति को साधना में लगा देना। तप दो प्रकार के होते हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप से पाच इन्द्रियों पर नियत्रण किया जा सकता है। इससे शरीर की आरोग्य से भी शुद्धि होती है। आभ्यतर तप से आतरिक शत्रुओ जैसे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों को मन्द किया जाता है, इसमे आत्मा स्व-समभाव मे रमण करने लगती है।

जिह्वा को रसनेन्द्रिय कहा गया है। इसका कार्य विभिन्न रसो का ज्ञान करना है, उनका स्वाद लेना है। रसनेन्द्रिय पर विजय पाना बडा कठिन कार्य है। भौतिक युग में रसनेन्द्रिय– सुख को भोगने की लालसा अधिकाश व्यक्तियों में बढ़ती जा रही है। इस क्षणिक सुख के पीछे दु ख का सागर लहरा रहा है किन्तु हमारा दुर्भाग्य यह है कि इसके दुष्परिणामों को जानते हुए भी अज्ञान रूपी अधकार के कारण हमे यह सब दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।

आयुर्वेद चिकित्सा में रोगमुक्ति के लिये जितेन्द्रियता को महत्त्व दिया गया है। मानव स्वास्थ्य के विनाश को रसनेन्द्रिय पर सयम करके रोका जा सकता है। मनुष्य काय–इन्द्रिय, मन एव आत्मा का सयोग है, आत्मा प्रत्येक प्राणी में है।

आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी अनादिकाल से चतुर्गतिरूप ससार मे परिभ्रमण कर रही है। इस कारण आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप, गुण या स्वभाव को भूलकर पर-भावों में रमण करती रहती है, इसी से कर्मबन्ध होते है। आत्मा के असख्यात प्रदेश हैं। हर एक प्रदेश पर अनतानत

कर्म वर्गणाओं के पुद्गल चिपके हुए हैं। कर्मों को क्षय किये बिना चतुर्गति रूप ससार का परिभ्रमण रुक नहीं सकता और न ही वास्तविक सुख की अनुभूति हो सकती है। चार गतियों में मात्र मनुष्य भव में ही तप की आराधना से कर्मों को क्षय करके व्यक्ति जीवन-मरण से ऊपर उठ सकता है।

तप से कर्म का क्षय होता है। जैन इतिहास मे ऐसे अनेकानेक उदाहरण हैं जिनके द्वारा तप से कर्मो को क्षय करने का बोध कराया गया है। भगवान महावीर ने कर्मों की निर्जरा के लिए बारह साल साढे छः महीने तक कठोर तप किया और कर्मों का क्षय करके वे केवलज्ञानी बने। सनत कुमार चक्रवर्ती के शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न हुए। उन्होने मासखामण की तपस्या की और रोग मुक्त हुए। दृढप्रहरी जैसे चोर हर रोज सात जीवों की बलि देने वाले अर्जुनमाली ने भी तपस्या से कर्मों का क्षय करके महासुख प्राप्त कर लिया था। तप पूर्णतया तभी सार्थक होता है जब उसके साथ भावना-शुद्धि हो। किसी भी प्रकार के सुख की आकाक्षा से रहित किया जाने वाला तप आत्मकल्याणी होता है। तप करते समय लक्ष्य एक ही होना चाहिए कि मेरे अनादिकाल के सचित कर्मों का क्षय कैसे हो ?

भगवान महावीर ने भिक्षुओं की ओर सकेत करते हुए कहा– यदि उन्हें भिक्षा नहीं मिलती है तो वे कुपित नहीं होते, अपितु समझते हैं कि अच्छा हुआ आज सहज ही उपवास हो गया। जिसमें यह भाव नहीं बनता वह भिक्षु नहीं बन सकता। श्रावक की भी यह कसौटी नहीं है कि वह कितने उपवास करता है। उसकी असली कसौटी है कि उपवास के समय और बाद में कितनी समता रखता है। जिस व्यक्ति ने समता को साध लिया है उसका आहार भी साधन बन जाता है। पूज्य गुरुदेव ने अपनी एक धर्मदिशना में ठीक ही कहा है कि लगातार दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाच दिन, और सात दिन के उपवास करते हुए भी जो समता-भाव नहीं रखते, वे अनत ससारी होते हैं। कहने का अर्थ इतना ही है– हमारे तप, ध्यान, साधना आदि की उपयोगिता और प्रासगिकता मात्र दिखाने के लिए नहीं होनी चाहिए वरन् समता के धरातल पर होनी चाहिए, तभी उसकी सार्थकता है।

बहुत बार देखा जाता है कि व्यक्ति तपस्या तो कर लेते हैं लेकिन पारने के दिन वे एक मिनिट भर का भी धैर्य नहीं रख सकते। तपस्या और दिखावा बड़ी विचित्र बात है। तपस्या के अवसर पर गीत गाना, मेहन्दी रचाना, रुपये-पैसों का

आदान-प्रदान करना, नये कपडे सिलाना और इससे भी बढ़कर शोभा यात्रा का आयोजन करना जिसमे बैण्ड-बाजे व अनेक प्रकार की साज-सज्जा, साथ ही हाथी, घोडे, ऊँट आदि की सवारी कर वे अपने अह का प्रदर्शन करने से भी नहीं चूकते हैं। आश्चर्य तो यह है कि तपस्वी भी तन्मयता से इन गतिविधियो में भाग लेता है। वस्तुत. तपस्या काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि कषायों को क्षय करने के लिए की जाती है न कि अहकार-वृत्ति को बढ़ाने के लिए। मेरे इतना कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मेरी दृष्टि में तपस्या अनुचित है, तपस्याए तो सभी अच्छी हैं किन्तु उस स्थिति में उसकी आधार-भूमि आत्मिक न होकर मानसिक रूप से पतनोन्मुखी अहकारी बन जाती है उस स्थिति में तपस्या कल्याणकारी नहीं हो सकती। ज्ञानी पुरुषों ने ठीक ही कहा है– साध्य का अच्छा होना ही पर्याप्त नहीं है, साधन भी सम्यक् होना चाहिए। जो लोग तपस्या की अज्ञान चेतना को भेदकर उसे धर्म-चेतना में बदल लेते हैं वे ही आत्मा का स्पर्श कर पाते हैं।

समता और तप एक दूसरे की वृद्धि में सहायक हैं। तप की प्रखरता से ही मन के भावों में निर्मलता व विशुद्धता बढ़ती है। तपस्वी जितने अधिक कष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है उसके आत्मिक भाव उतने ही निर्मल होते हैं। समता तपोवृद्धि में सहायक है। जैसे तप से समता बढ़ती है वैसे ही समता से तपोवृद्धि होती है। समताधारक दु खो के आने पर भी विचलित नहीं होता, अशुभ से द्वेष नहीं करता और सुख की कामनाओं को छोड़ देता है। अतः तप साधन है, और समता है साध्य। तपो से समता की सिद्धि की जाती है जो आत्मा का प्रमुख लक्ष्य है।



परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग

इस ससार में परमात्मा से बडा कोई सहारा नहीं है इसलिये भक्त परमात्मा के ही सहारे की कामना करता है। यह सहारा उसे प्राप्त हो इस हेतु वह प्रार्थना करता है–

कुथ जिनरात तू ऐसो, नहीं कोई देव तो जैसो।
त्रिलोकीनाथ तू कहिये, हमारी बाँह दृढ गहिये॥

परन्तु यह सहारा तब मिले जब उसके और परमात्मा के बीच का अन्तर मिट जाये। स्थिति यह है कि न यह अन्तर मिटता है और न भक्त की समस्या का समाधान होता है।

भक्त की एक समस्या है तो मनुष्यो की अनेक समस्याएँ हैं। जब तक वह एक समस्या का समाधान करता है तब तक दूसरी समस्या उसके सामने उभर कर आ खडी होती है। समस्याओं के इस चक्र में वह उलझता जाता है और उनका समाधान नहीं हो पाता। कारण क्या है ? कारण है समस्याओं के मूल को न समझ पाना। किसी समस्या का मूल कहा है, यदि यह पता लगा लिया जाय तो समस्या का समाधान तुरन्त हो जाता है और समस्या सदा के लिये समाप्त हो जाती है।

मूल की खोज में वैज्ञानिक भी लगे हुए हैं, नये-नये आविष्कार कर रहे हैं किन्तु उन्हें सतोष नहीं होता, वे आगे और उससे आगे शोध करते जाते हैं और खोज करते हुए जहॉ पहुच कर यह सतोष कर विराम लेते हैं कि उन्होंने पदार्थ विशेष ढूंढ लिया, वहीं से आगे शोध कर दूसरे वैज्ञानिक और आगे पहुँच जाते हैं और विराम की स्थिति समाप्त हो जाती है क्योंकि खोज का अन्त नहीं हो पाता। वे यदि मूल

की खोज में लगें और मूल को ढूढ़ लें तो समस्याओ का समाधान हो जाये परन्तु ऐसा हो नहीं पाता।

बात यही है कि जब तक व्यक्ति मूल को प्राप्त नहीं कर लेता समस्याओं का समाधान नहीं होता। जगल से गुजरते हुए सुन्दर फल को देखा, मन में उसे प्राप्त कर खाने की इच्छा जाग्रत हुई। अनुचर से कहा कि फल ले आओ। वह आज्ञा का पालन कर फल तोड लाया। पहला ग्रास लेते ही मुह कड़वा हो गया। तुरन्त थूक दिया, यह तो खाने योग्य नहीं। मन में जिज्ञासा पैदा हुई– इतना सुन्दर फल आखिर भीतर से इतना कड़वा क्यो ? समस्या सामने आई तो उसके समाधान की मन मे ठान ली– बाहर से इतना सुन्दर, अन्दर से इतना कटु क्यो ? अनुचर से कहा इसकी टहनी तोड़ कर लाओ। टहनी को चखा– वही भी कड़वी! पत्ते मगवाए, पत्तों का स्वाद भी कडवा! तब जड निकलवा कर चखी। वह भी कड़वी थी। तब समाधान हुआ– जिसके मूल में ही कड़वापन है उसके तने, टहनी, पत्तों और फल में कडवापन क्यो नहीं होगा ? जड का कडवापन पूरे वृक्ष में सचरित हो गया था। समस्या का समाधान हो गया, सतोष प्राप्त हो गया। परन्तु यदि यह खोज नहीं की होती तो क्या चित्त को सतोष प्राप्त होता ? इसीलिये ज्ञानी जनो ने कहा है कि व्यक्ति जिन समस्याओं मे उलझे उनके मूल को ढूँढ़ने का प्रयास करे– समस्याओ का समाधान स्वत· ही प्रारम्भ हो जायेगा।

मूल समस्या यही है कि मनुष्य दूसरों को तो बहुत जानता है परन्तु स्वय से अपरिज्ञात रहता है। कई भाई आते हैं, साधु-सतों के पास पहुच कर पूछते हैं– 'मुझे पहचाना ?' यदि कह दें 'नहीं पहचाना', तो पहचान निकालेंगे– 'मैं वहाँ का हूँ . स्थानक के पास मेरा घर है .।' किन्तु कभी किसी भाई से पूछ लिया जाय–'तुम तो महाराज को पहचान रहे हो तो महाराज का नाम क्या है ?' तो वह भाई भी विचार में पड जायेगा कि अब मैं नाम किसका बताऊँ ? अत. मैं तो आपको एक बात बता रहा हूँ– व्यक्ति स्वय को नहीं जानता है, यदि स्वय को जान लिया जाय तो सारी समस्याए वहीं पर समाप्त हो जायेंगी।

प्रमुख समस्या यही है– तुम दूसरों को पहचान रहे हो, उनको जान रहे हो, किन्तु क्या अपने स्वय को भी जान रहे हो ? क्या अपना स्वय का परिचय भी जानते हो ? जब तक हम अपना परिचय नहीं जानेगे समस्याएँ हमारे साथ लगी ही रहेगी। हम गाते है–*'उमा हो, मिलन को तोसे, न राखौ आतरो मो से'* परन्तु क्या इस अतर का कारण जानते हैं जिसके कारण मिलन में बाधा उत्पन्न होती

है ? जब तक हम स्वयं को नहीं पहचानेंगे, यह अंतर बना रहेगा और मिलन नहीं होगा।

एक व्यक्ति परेशान है, हताश हो गया है, उसे सूझ नहीं रहा है कि उसे क्या करना चाहिये। वह कुण्ठित हो रहा है, उसकी बुद्धि उसका साथ नहीं देती, प्रज्ञा उसके किसी काम नहीं आती, अपने ही तर्कों मे स्थितियों के कारण ऊहापोह में वह उलझता जाता है और सोचने लगता है– ऐसे जीवन को जीने की क्या सार्थकता ? अपने प्रयासो से हार कर, निराश हो वह आत्महत्या करने तक का विचार कर लेता है यद्यपि जानता है कि आत्मघात महापाप है। अपना जीवन समाप्त करने के उद्देश्य से वह जगल की ओर निकल जाता है। संयोग से वहा एक वृद्ध पुरुष से उसकी भेंट हो जाती है। वृद्ध अनुभवी भी है और समझदार भी। निराश व्यक्ति का चेहरा उसके भीतर चढ़ते-उतरते विचारों का दिग्दर्शन उस वृद्ध व्यक्ति को करा देता है। चेहरा वैसे भी व्यक्ति के अत.करण के भावों का दर्पण होता है। वृद्ध व्यक्ति उससे जंगल में आने का कारण पूछ लेता है। भावना का आवेग उस निराश व्यक्ति के नियत्रण के बाहर हो जाता है और वह फूट-फूट कर रोने लगता है। वृद्ध व्यक्ति उसे सात्वना देता है तब वह व्यक्ति अपनी व्यथा कह देता है– 'आप अत्यन्त सज्जन हैं, आपने मेरा दु ख-दर्द तो पूछा। इतने बडे ससार में किसी को मेरा दुःख-दर्द पूछने की फुर्सत ही नहीं मिली।' तदुपरान्त उसने अपनी दारुण गाथा कह सुनाई–

'मैं जीवन से निराश हो गया हूँ क्योंकि जिस काम में हाथ डालता हूँ, असफलता ही मिलती है। किसी भी धन्धे में मुनाफा नहीं होता। कर्ज सिर पर सवार है, परिवार का भरण-पोषण भी कठिन हो गया है। अपना तथा अपने परिवार का पेट कैसे भरूँ ? समस्याओं पर समस्याएँ घिरी आ रही हैं जिनसे परेशान होकर मैंने इस असफल जीवन की समाप्ति का निश्चय कर लिया है और इसी हेतु मैं इस जगल में आया हूँ।'

वृद्ध ने पूछा, 'तुम्हारे मर जाने से क्या उन सभी समस्याओ का समाधान हो जायेगा ? समस्याओं के मूल को जानने का प्रयास करो क्योंकि जव तक तुम उनके मूल को न जानोगे, उनका समाधान कैसे करोगे ?

उस व्यक्ति ने पूछा, 'क्या आप मेरी समस्याओं का समाधान कर सकते हैं ?'

वृद्ध ने कहा, 'जरूर कर सकता हूँ आखिर ऐसी क्या वात है कि तुम्हारी

समस्याओं का समाधान न हो सके। परन्तु तुम में साहस है या नहीं ? तुम में पुरुषार्थ करने की क्षमता है या नहीं ?'

उस व्यक्ति ने कहा, 'साहस तो मुझ में भरपूर है और पुरुषार्थ भी मैं कर सकता हूँ।'

'तब क्या सामने वाले विशाल वृक्ष पर तुम चढ़ सकते हो ?'

'इसमें कौन-सी मुश्किल बात है, मैं अभी चढ़ सकता हूँ परन्तु आप मुझे बातों में ही टालना चाहते हैं।' 'नहीं ऐसा नहीं है। तुम घबराओ मत। समस्याएँ तुमने मेरे सामने रख दी हैं, मैं उनका समाधान करूँगा परन्तु तर्क मत करो, मुझ में विश्वास रखो, जैसा मैं कहता हूँ वैसा करो, तुम्हारी समस्या का समाधान अवश्य हो जायेगा। तुम कहते हो तुम उस वृक्ष पर चढ़ सकते हो, यदि तुम्हे स्वय पर विश्वास है तो चढ़ कर बताओ कि कहॉ तक चढ़ सकते हो।'

वृद्ध की चुनौती से उस युवक में जोश आ गया और स्फूर्ति का सचार हो गया। भूखा होने पर भी वह वृक्ष पर उत्साह से चढ़ने लगा और बड़े तने से धीरे-धीरे पतली टहनियों तक पहुँच गया। वृद्ध पुरुष उसकी तत्परता को मुग्ध भाव से देखता रहा। जब वह युवा काफी ऊपर पहुँच गया तब वृद्ध ने कहा, 'ठीक है, अब तुम नीचे आ सकते हो। जो चढ़ा है वह उतर भी सकता है। अब तुम नीचे आ जाओ।'

वह युवक धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक पतली टहनियों से मोटी शाखाओ पर आ गया और फिर तीव्र गति से नीचे उतरने लगा। पतली टहनियों पर डर रहता है, कहीं वे टूट न जायें अतः यत्नपूर्वक उन पर पैर रखता है। मोटी शाखाओ पर कोई खास खतरा नहीं था इसलिये वह जल्दी-जल्दी उतर रहा था। जब वह भूमि से लगभग पन्द्रह फीट ऊपर रह गया तब वृद्ध ने कहा, 'सावधान ! सम्हल कर उतरना।' युवक एक क्षण को रुका और फिर बोला, 'मैं आपकी बात समझा नहीं।'

वृद्ध ने कहा, 'बाद मे समझना, अभी जैसा मैंने कहा है, सावधानी से नीचे उतरो।'

युवक नीचे उतर कर वृद्ध के सामने खडा हो गया और बोला, 'अब मेरी समस्या का समाधान दीजिये।'

वृद्ध ने कहा, 'तुम्हारी समस्या का समाधान तो हो चुका।'

'मैं समझा नहीं,' युवक बोला।

वृद्ध ने कहा, 'जब तुम उतर रहे थे तब मैंने क्या कहा था ?'

जब मै लगभग पन्द्रह फीट ऊपर रह गया था तब आपने कहा था– 'सावधान, सम्हल कर उतरना,' पर यह तो मेरी समस्या का समाधान नहीं है।

वृद्ध ने कहा, 'बस यही बात समझनी है, फिर तुम्हारी सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा, वे रहेंगी ही नहीं। सत्य तो यह है कि व्यक्ति स्वय से अपरिचित रहता है। ऐसा व्यक्ति बाहरी परिचय को स्वीकार कर लेता है और समस्याओं में उलझ जाता है। यदि स्वय को समझ ले तो समस्याएँ रहें ही नहीं। जब तुम ऊपर पतली टहनियों पर पहुँचे तब कितने सावधान थे। एक-एक कदम सावधानी से रख रहे थे कि कहीं कोई टहनी टूट न जाये। फिर तुम मोटी शाखाओं पर आ गये तब तुम निश्चित और बड़ी सीमा तक असावधान हो गये थे इसलिये मैंने कहा कि सावधान हो जाओ। मनुष्य कठिनाइयों और सकट में बहुत धैर्य रखता है किन्तु जैसे ही सफलता के निकट पहुँचता है उतावला हो जाता है इस कारण अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। व्यक्ति कार्य की सफलता तक पहुँचने में जितना सतर्क रहता है उतना ही खतरा निकल जाने पर भी रहे तो समस्याएँ समाप्त ही हो जायें। इसीलिये प्रभु महावीर कहते हैं– *'पहले स्वयं को जानो।'* अपने को नहीं जानना ही समस्या का मूल है, इसीलिये समस्याएँ आती हैं।'

कवि विनयचन्द्र जी परमात्मा के चरणों में वन्दना कर कहते हैं कि जिस सिद्ध अवस्था में आप हैं वैसी ही मेरी है किन्तु मैं एक समस्या में उलझ गया हूँ कि जब आपकी और मेरी सिद्ध अवस्था एक ही है, जैसा स्वरूप आपका है वैसा ही मेरा है, तब हमारी आत्मा का स्वरूप कैसा है ? मैं आप से मिलना चाहता हूँ परन्तु दूरी मिटती नहीं।'

समस्या स्पष्ट हो गई। जव तक अपना ज्ञान नहीं हो जाता, दूरी मिटती नहीं। अप्रमाद आचरण करने वाले साधक को कहीं कोई भय नहीं होता। प्रमादी को पग-पग पर भय होता है। जैसे घड़ी का पेण्डुलम डोलायमान रहता है, परन्तु कहीं पहुँच नहीं पाता, वैसी ही उसकी स्थिति हो जाती है। अपनी गति को स्थिर कर, अपनी दिशा निर्धारित कर अपने को पहचान कर जो आगे वढ़ता है, वह

आत्म सिद्धि को प्राप्त करता है, सफल-मनोरथ होता है। कवि विनयचदजी जो यही कहते है कि मैं भगवान से दूरी नहीं रखना चाहता। वे इस दूरी को समाप्त करने का मार्ग भी बता देते हैं। तुम अपने आप से अपना अन्तर दूर करो, स्वय को जान लो तो परमात्मा से दूरी मिट जायेगी क्योंकि जो आत्मा है वही परमात्मा है। यदि आत्मा को उपलब्ध कर लिया तो समझो परमात्मा भी उपलब्ध हो गया। जिसने आत्मा को देख लिया उसने परमात्मा को भी देख लिया। परमात्मा को प्राप्त करने की बात इतनी सरल है पर वैज्ञानिक अनुसधानों एव भौतिक अवधारणाओं मे विश्वास रखने वाला इस सरल मार्ग से परिचित ही नहीं हो पाता। आज का युग खोज का युग है, आध्यात्मिक खोज से परहेज क्यों ? यदि आध्यात्मिक खोज में हम आगे बढ़ते जायें तो आत्मा को विज्ञात अवस्था मे ले आयेंगे और परमात्मा की प्राप्ति भी हमें स्वत. ही हो जायेगी। बस यह सत्य समझने की आवश्यकता है।



आत्म-ज्ञान की प्राप्ति

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो, प्यारो प्राण समान।
कबहुँ न बिसरें चित्त सू, सदा रहे अखण्डित ध्यान।।

धर्मप्रेमी जन परमात्मा की प्रार्थना करते हैं और कामना करते हैं कि वह उनके हृदय से कभी दूर न हो। किन्तु क्या ऐसे लोग परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानते हैं ?अवश्य ही नहीं, तभी ज्ञानीजन कहते हैं कि तुम परमात्मा के नाम की रट तो लगा रहे हो पर क्या स्वय को भी जानते हो ? तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य स्वय को जान ले, समझ ले तो परमात्मा की पहचान भी हो जाये और तब पता चल जाये कि उसकी आत्मा ही तो परमात्मा है। इस पहचान के बाद परमात्मा को अब अलग से ढूँढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रह जाये और मनुष्य परम आत्म सुख का अनुभव करने लगे। परन्तु यहाँ कार्य अत्यत कठिन है। यह कार्य कठिन इसलिये नहीं है कि परमात्मा की स्वय में अनुभूति कर पाना कठिन है- कठिन इसलिये है क्योंकि यह जानने की परम्परा नहीं रही है। मनुष्य कहता तो है- *'अप्पा सो परमप्पा'* परन्तु इसमें कितनी आस्था रखता है अथवा उसे प्राप्त करने के लिये कितना उत्सुक रहता है इस सदर्भ में एक दृष्टात है।

एक बहुत पहुँचे हुए संत थे। उनके भक्तों की सख्या भी बहुत बड़ी थी। उनमें कुछ अत्यंत उत्कट भक्त भी थे जो अक्सर स्वामी जी से कहा करते थे 'भगवान को पाने का कोई रास्ता बताइये।' सतजी का एक ही उत्तर होता था, 'भगवान को पाने की उत्कट कामना हो तो वह मिल सकता है।' वे सब यही कहा करते थे कि उनकी वास्तव में उसे पाने की उत्कट कामना है। सतजी उन सबकी

मानसिकता से भली भाँति परिचित थे इसलिये एक दिन उन्होंने अचानक ही अपने उन उत्कट भक्तो से कहा कि वे अपने उन भक्तों का कल्याण करना चाहते थे इसलिये उनके मन में जो सबसे बडी कामना हो और वे जिसकी पूर्ति चाहते हों वह एक कागज पर लिख दूसरे दिन प्रवचन से पूर्व उन्हें दे दें। दूसरे दिन प्रवचन से पूर्व उन्होंने भक्तों से उनकी कामना के सभी कागज ले लिये और ध्यानपूर्वक उनका अवलोकन किया। कामनाएँ अनेक प्रकार की थीं– किसी ने मुकद्दमे मे जीत चाही थी, किसी ने डूबते व्यापार की पुनर्स्थापना, किसी ने पुत्र-प्राप्ति की कामना लिखी थी और किसी ने अन्य कोई, परन्तु ईश्वर को पाने की कामना किसी ने नहीं लिखी थी। सतजी ने सभी कागज समेट लिये और भक्तों की ओर उन्मुख होकर बोले, ' आप सभी लोगों का कहना था कि भगवान को पाने की आपकी उत्कट कामना है परन्तु किसी ने भी वह कामना इन कागजों मे से किसी पर भी नहीं लिखी है। जब आपकी उत्कट कामना ही उसे प्राप्त करने की नहीं है और आप लोग सांसारिक कामनाओं से ही ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं तो भगवान आपको कैसे मिल सकता है !' यही वास्तविकता है इसीलिये ज्ञानी जनों ने कहा है *'दुक्खे निज्ञईअप्पा'*। आखिर ऐसा क्यों है कि आत्मा को जानना कठिन है ? इस पर थोड़ा विचार कर लें।

हमारी जीवनचर्या और मानसिकता में सासारिकता अपने उत्कटतम रूप में विद्यमान है। सासारिक लगावों, आवश्यकताओं और प्रलोभनों से हम अपने आप को मुक्त नहीं कर पाते। यही कारण है कि सासारिक कार्य तो हम बिना किसी कठिनाई के सीख लेते है, इसलिये भी कि उनकी पहिचान हमें बचपन से ही हो जाती है, उनसे हमारा लगातार परिचय और सम्पर्क बना रहता है और हम उन्हे अनायास ही सीख लेते हैं। इस प्रकार व्यक्ति बाहर के पदार्थों को बहुत जान लेता है। व्यापारी के घर जन्म लेने वाला बालक छोटी उम्र में ही जान लेता है कि खाता-खतियान कैसे किया जाता है, व्याज कैसे लगाया जाता है, तराजू कैसे पकडा जाता है, कपडे की दूकान है तो कपडा मीटर से किस प्रकार नापा जाता है, यह सब सहज ही सीख लेता है। इसी प्रकार डाक्टर का लडका अपने पिता के साथ रहते-रहते डाक्टरी की बहुत सी बातें अनायास ही सीख जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो जैसा व्यापार या धधा करता है उसकी सतान उसकी सहज ही ज्ञाता बन जाती है। यदि आत्मा को जानने की परम्परा चली आ रही होती तो बच्चे आत्मा का ज्ञान भी सस्कारों के माध्यम से अनायास ही प्राप्त कर लेते। यह तो आप कह सकते हैं कि सम्पत्ति का मालिक होता आयेगा, दादा की सम्पत्ति पोते तक

पहुॅच सकती है और उससे आगे की पीढ़ियों तक भी जा सकती है, किन्तु ऐसा प्रसंग नहीं रहता कि आत्म-दर्शन की भी परम्परा चलती रहे।

एक और बात है– अधिकार की, हक की। हम यह तो कह सकते हैं कि दादा की सम्पत्ति पर पोते का हक होता है और इस प्रकार सम्पत्ति की पीढ़ियो तक चलने की परिपाटी से हम परिचित हैं परन्तु वह कौन सी सम्पत्ति है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुॅचती है ? निश्चय ही वह नश्वर सम्पत्ति होती है और अगर सस्कारों और आत्मज्ञान की सम्पत्ति हो तो क्या वह पीढ़ियों तक नहीं चले ? परन्तु उस सम्पत्ति की न कोई चर्चा करता है न उसके सग्रहण अथवा सुरक्षा की ही चिन्ता करता है। तव इसके साथ भी वैसा ही हो सकता है जैसा धन-दौलत के साथ होता है। इसीलिये कहते हैं– *'पूत सपूत तो क्यों धन सचै, पूत कपूत तो क्यों धन सचय'* । परन्तु सस्कारों की सम्पत्ति के भी इसी प्रकार बरबाद करने के उदाहरण हैं। सत कबीर का पुत्र कमाल विपरीत प्रकृति का था जिसका मलाल स्वय कबीर को भी था– *'बूढ़ा वश कबीर का जब उपजा पूत कमाल।'* संस्कारी लोगों के परिवार में कुसस्कारी सतानें उत्पन्न होना उतनी ही सामान्य बात है जितनी धनी लोगों के धन की उनकी नालायक सतति द्वारा बरबादी की बात।

परन्तु बात परम्परा की है, सस्कारों की परम्परा की, आत्म-ज्ञान की परम्परा की। यह परम सौभाग्य होता है और वे दुर्लभ क्षण ही होते हैं जहाँ परम्परा से आत्मदर्शन प्राप्त होता रहता है। परन्तु यदि आत्म-दर्शन पूर्वजों से प्राप्त नहीं हुआ हो तो वह स्वय को ही प्राप्त करना होता है, और यह असभव भी नहीं है।

हम आदि-युग की बात करें। ऋषभ देव भगवान की माता मरू देवी ने आत्म-दर्शन कर लिया था। ऋषभदेव भगवान ने भी आत्मदर्शन कर लिया और उनके पुत्र वाहुबली ने भी। कहा जाता है कि एक समय जिस शीशमहल में भरत चक्रवर्ती अपनी शोभा निहार रहे थे कि सयोग से एक अगूठी एक हाथ की अंगुली से छिटक कर दूर हो गई। उन्होंने अनुभव किया कि वह अगुली शोभाविहीन हो गई थी। मन में जिज्ञासा पैदा हुई। उन्होंने दूसरी अंगूठी को भी उतार दिया, इस प्रकार से तीसरी, चौथी को भी उतारा और देखा कि उन अगुलियों की शोभा समाप्त हो गई थी और वे शोभाविहीन हो गई थी। भरत चक्रवर्ती ऊपर से आभूषण उतार रहे थे साथ ही भीतर जो वादल थे, चेतना पर जो आवरण आया हुआ था जो काले पर्दे पडे हुए थे उनको भी उतार रहे थे उनके भीतर ज्ञान वढ़ता चला जा रहा था।

देखा कि यह सारी शोभा किससे थी ? पुद्गलों से, यह तो स्वय की शोभा नहीं थी। उन्होंने सोचा जब तक मैं स्वय अपने आपको नहीं जान लू तो यह बाहर के पुद्गल मेरे शरीर को कहा तक शोभा देते रहेंगे ? क्या मेरा यही स्वरूप है और क्या मैं इतना शोभाहीन हू कि बाहरी वस्तुओं पर शोभा के लिये निर्भर रहू ? और उनके अन्तर्चक्षु खुल गये। मानने में यह आता है कि उस शीश महल में उनको केवल ज्ञान हुआ और उससे ही आठ राजाओ को भी ज्ञान हो गया।

आज ऐसा शीश महल अगर हमें मिले तो क्या हम उसमें प्रवेश करने के लिये तैयार होंगे ? हॉ जरूर होंगे, परन्तु क्या यह निश्चित हो जायेगा कि उसमें जाने पर केवल ज्ञान प्राप्त हो जायेगा ? शीश महल में जाने मात्र से केवल ज्ञान होने की स्थिति नहीं बनती है। प्रत्येक को स्वय का बोध जब तक नहीं होता तब तक केवल ज्ञान नहीं होने वाला है।

प्रभु महावीर ने मुनि को बहुत सुखी बताया है। मुनि बनने के बाद कोई क्लेष नहीं रहता। क्लेष हो सकता है यदि कुछ खोने का भय हो अथवा भय से कुछ छुपाने की आवश्यकता हो। परन्तु सत्य तो यह है कि इस विश्व में छिपाने जैसा कुछ है ही नहीं और कुछ हो भी तो वह छिपाया जा भी नहीं सकता।

आप कहेंगे कि मैं गहरा खड्डा खोद करके उसमें सम्पत्ति को छिपा दूगा तो किसी को मालूम नहीं पडेगा, तो क्या सिद्ध भगवान नहीं देख रहे हैं ? और यहॉ छिपाने लायक कोई चीज है क्या ? ससार में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका कोई लेन-देन नहीं किया जा सकता। असी, मसी और कृषि यह स्वय भगवान ने गृहस्थावस्था में बता दिया।

आप लेन-देन किसका करते हैं, केवल पुद्गलों के बदले पुद्गलों का। कभी आप कहेंगे कि हम पुद्गलों के बदले में चैतन्य भी खरीद लेते हैं। पैसा देकर व्यक्ति को भी खरीदा जाता है किन्तु आप विचार करें कि चैतन्य को खरीदा जा सकता है या स्वय स्वार्थ को खरीदा जाता है ? पैसे के बदले में चैतन्य कभी भी आप नहीं खरीद सकते। किसी को अपना बनाना है तो उसके लिए आत्मीय भाव ही चाहिए।

एक बहुत गरीब व्यक्ति है, कोई सेठ उसको पैसा देता है और पाच खरीखोटी सुनाता है तो क्या वह दिल से उसे जीत पायेगा ? वह सेठ को पलट कर जवाब भी देता पर उस समय उसकी स्थिति ठीक नहीं है आर्थिक दृष्टि से वह कमजोर है इसलिए खरीखोटी सुन लेता है किन्तु मान लो कि उसके पास भी सपत्ति कस

अम्बार लग जाए तो क्या वह उस सेठ को 'सेठ साहब' कहेगा ?

हमारे पास ऐसी कौनसी वस्तु है जिसका हम आदान-प्रदान कर सकते हैं ? हमारा जो है वह हम किसी को निकाल कर नहीं दे सकते। आप कहेंगे कि आप हमें उपदेश दे रहे हैं यह भी जड़ है। जिन शब्दों का उच्चारण किया जा रहा है वे जड़ हैं परन्तु भीतर जो अनुभूति हो रही है उसको क्या मैं निकाल कर दे सकता हूँ ? आपके भीतर की अनुभूति को क्या मैं निकाल कर ले सकता हू ? वह किसी को नहीं दी जा सकती है और न ही ली जा सकती। जब ऐसी स्थिति है तो केवल इन पुद्गलों के भरोसे हम क्या कर करेंगे ?

एक मुनि सुखी है और एक मुनि दु खी है। सुख-दुख का कारण क्या है ? जहा आत्मा के प्रति दृष्टि स्थिर हो गई तो वहा पर सब सुख हो गया। परन्तु आत्मा के प्रति दृष्टि बदली, पुद्गलों के पदार्थों में जहाँ उसका लगाव बढ़ गया तो वहा पर दुख हो गया। उस अवस्था में उसकी शाति और सुख लुप्त हो जायेगा।

एक प्रसग है– एक राजा है जिसकी आखें क्रोध से लाल हो रही हैं। क्रोध से अत्यत प्रकम्पित हो रहा है और सास भी कठिनाई से आ रही है, नाक के नथुने फूलने लगे हैं और गर्म-गर्म श्वास छोड रहे हैं। महाराज एक मुनि को मारने के लिए झपटते हैं। मुनि ने कुछ बिगाड़ा नहीं है किन्तु भ्राति हो गई है। जहा स्वार्थ-सिद्धि में बाधा आती है तो सोच लिया जाता है कि यह मेरे बीच में बाधक बन रहा है।

स्वर्णकार के यहा मुनि भिक्षा लेने गये थे। भिक्षा लेकर चले भी गये। उस समय वह स्वर्णकार जौ के दाने सोने के बना रहा था। एक पक्षी सोने का दाना जौ समझकर ले गया। स्वर्णकार ने सोच लिया कि मुनि ले गया। उसके मन मे विचार आया कि यह मुनि कैसा है जिसके घर का खाता है उसका ही बिगाडता है। उसने मुनि के विरुद्ध सोच लिया। उसके लिये तो सोने का दाना कीमती था। जिसकी पुद्गलो पर दृष्टि होती है उसकी दृष्टि सकुचित होती है। ऐसी दृष्टि से न्याय की प्रक्रिया में भी बाधा आती है। राजा को तो क्रोध था। चमड़े की पेटी बाध कर मुनि को धूप में खडा कर दिया गया। क्या मुनि का कोई दोष था ? परन्तु महाराज उस मुनि को मारने के लिए दौडे कि मुनि राजा का क्रोध देखकर सकपकाये। मुझे क्या करना चाहिए, मुनि ने विचार किया। उनकी आत्मा ने कहा, 'सभलना' कहीं तुम्हारे मन में भय तो नहीं है ? फिर उनके भीतर से आवाज आयी कि भय मेरे

अदर क्यों रहेगा मैं भयभीत क्यों बनू ? यदि मेरा कुछ जाता हो तब–तब तो मुझे भय भी लगेगा परन्तु जो मेरा है उसे राजा तीन काल तक ले नहीं सकता। मुनि ने अपना मन दृढ किया– 'सावधान रहना राजा के प्रति तुम्हारे मन में जरा सी द्वेष भावना भी नहीं पनपे। कहीं तुम्हारे मन मे शरीर के प्रति अनुराग नहीं आ जाए। अगर आ गया तो राजा के प्रति तुम्हारे मन मे द्वेष की भावना आ जायेगी। यह शरीर को पीडा देने वाला विचार होगा और इसके बाद राग, द्वेष की भावना भी आ जायेगी।' वे सभल गए, अपने आप में स्थिर हो गए और ध्यान-साधना में लग गए।

अपने भीतर के समभाव को जो प्राप्त कर लेता है उसका समभाव कोई राजा तीन काल तक अलग नहीं कर सकता। यदि शरीर पर प्रहार हो तो वह समाप्त हो सकता है किन्तु क्या चेतना समाप्त हो पायेगी ? इसे तीन काल में भी कोई समाप्त करने वाला नहीं है। प्रभु महावीर ने भी कहा है कि किसका हनन् किया जा रहा है ? तू तो केवल हनन, करने का विचार मात्र करने वाला है। गीता जी मे भी कहा गया है कि इस आत्मा को न तो जलाया जा सकता है और न शस्त्र से छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। किन्तु जब तक इस तथ्य का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक आत्मा को जान पाना बड़ा कठिन काम है। हम कह देते हैं कि आत्मा पर अपनी दृष्टि को स्थिर किया जाए। ऐसे अनेक प्रसग आ सकते हैं कि व्यक्ति अपने आप में विचलित हो जाये। इसका अर्थ यही है कि आत्मा पर दृष्टि स्थिर नहीं हुई है।

इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा ही जाना जा सकता है। ऐसी प्रज्ञा द्वारा जिसमें राग, द्वेष का अवस्थान नहीं हो। जब तक राग, द्वेष का अवस्थान रहेगा तब तक आत्मा पर दृष्टि स्थिर नहीं होगी। आत्मा को जानना है तो इस शाश्वत सिद्धात को जानना होगा। जब तक हम यह मानते हैं कि यह मुझे मारने वाला है, लूटने वाला है तब तक हमारी दृष्टि में अभेद विज्ञान नहीं होगा और जब तक अभेद-विज्ञान की स्थिति नहीं आयेगी तब तक अतर मे समभाव की भावना भी नहीं बन पायेगी।

आत्मज्ञान की अवस्था जब व्यक्ति को प्राप्त होती है तब भौतिक सवेदनशीलता कोई अर्थ नहीं रखती, तब शरीर मे कितनी ही पीडा हो जाए यह भाव बनता है कि यह तो शरीर है, जलने वाला है, कोई मेरी संपत्ति तो नहीं है। और जो मेरी सम्पत्ति है उसे ले जाने वाला कोई नहीं है तब मुझे चिंता किस बात की। जिन्होंने

आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है वे यह सोचते हैं कि दूसरी जगह पर जो कुछ हो रहा है उससे मेरा कोई सबध नहीं। नमीनाथ जी से सबधित घटना इस दृष्टि से एक अच्छा उदाहरण है। नमीनाथजी ने दीर्घ समय तक राज्य का उपभोग किया और एक जरा सा निमित्त मिला, जरा सी चूडी की खन-खन सुनी कि राज्य छोड दिया। इद्र ने सोचा कि नमीनाथ ऋषि कहीं भावुकता में आकर ऐसे तो नहीं बन गए, उन्होंने आत्मा को जाना भी है या नहीं ? अत वे आकर कहने लगे, 'अरे मुनि राज धन्य हैं आप ! किन्तु यह आपने मुनि जीवन का बाना पहना है यह आपके जैसे क्षत्रिय को शोभा नहीं देता है। आप क्षत्रिय वीर हैं आप अपनी मिथिला की तरफ दृष्टि दौडाइये, वहा पर आग लगी हुई है, लोग क्रदन कर रहे हैं और आप यहा साधु का बाना पहन करके बैठ गए हैं। क्या उस मिथिला की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य नहीं है ?' तो उन्होंने उत्तर दिया 'मिथिला यदि जल रही है तो मेरा कुछ नहीं जल रहा है।'

आप सोचेंगे कि क्या ऐसा कहना निर्दयता का प्रतीक नहीं है ? परन्तु जहाँ आत्मा का ज्ञान हो जाता है वहा क्या ऐसे भौतिक अग्निकाण्डों का कोई महत्त्व होता है ?

ससार का ताप किसको लगता है, इसका अनुभव हो जाए तो बात ही क्या है। नमीनाथ ऋषि ने कहा ससार का प्रत्येक प्राणी जल रहा है। मैं तो सबको जलते हुए देख रहा हूँ और जब सभी जल रहे है तो उस मिथिला को क्या देखना। वहाँ की आग तो महलों को धूमिल कर सकती है लेकिन जो कषाय है वह इस चेतना को कितना सतप्त कर रहे हैं क्या यह जाना ? इस भीतर की आग को तुमने देखा या नहीं और यदि इसका ज्ञान नहीं किया है तो तुमने स्वय को जाना ही कहा हैं। बाहर-बाहर ही डोलते रहे हो। कवि आनन्द
धन जी कहते हैं कि–

अब हम अमर भये ना मरेंगे।

कभी होता है व्यक्ति अमर ? जो मौत से नहीं घबराता है वह अमर हो जाता है परन्तु जहा मृत्यु का भय लगा रहता है वहा अमरता नहीं आ सकती। इसी प्रकार जब अमूर्त का ज्ञान हो जाता है तब यह विश्वास भी हो जाता है कि मेरी आत्मा शाश्वत है। ज्ञान के इस भण्डार को आत्मा से कोई अलग नहीं कर सकता। परिवार को अलग किया जा सकता है किन्तु मनुष्य का ज्ञान, उसका दर्शन, उसका

अनुभव कोई उससे अलग नहीं कर सकता। यह प्रज्ञा, यह मति, स्वय का ज्ञान इस आत्मा के साथ रहता है। यदि उसकी जानकारी हो जाए तो फिर वह इस ससार में व्यक्ति भटके नहीं। फिर बात वही आती है। परम्परा से बाप का काम बेटा सीख लेता है किन्तु आत्मा का ज्ञान स्वय ही करना पडता है क्योंकि आत्म-ज्ञान की परम्परा नहीं चलती। इसलिए ज्ञानी जनों ने कहा कि वह आत्म ज्ञान कठिनाई से प्राप्त होने वाला है और जो पुरुषार्थी होता है, साहसी होता है जो यह सोच लेता है कि मैं तो आत्मा को प्राप्त करके ही रहूँगा, वह उसको प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

अतः हम अपने शाश्वत स्वरूप का बोध कर स्वय को समझें कि मै कौन हू और कहा से आया हूँ। जब इसका ज्ञान हो जायेगा तब हमारी प्रज्ञा निर्मल हो जायेगी और आत्म-ज्ञान-प्राप्ति की स्थिति भी बन जायेगी।



मंगलमय जीवन का सूत्र

नदी निरन्तर गतिशील रहती है उसका प्रवाह रुकता नहीं है। पानी बहता रहता है, परिवर्तन हो जाता है। पानी यदि विशेष होता है तो उसकी धारा तेज गति से चलती है परन्तु यदि मद होता है तो धारा मद हो जाती है किन्तु वह सतत प्रवाहित रहती है।

ससार भी प्रवहमान है। काल की गति से इसकी पर्यायो में अनवरत परिवर्तन हो रहा है। नदी में पडा हुआ पत्थर उस पानी के साथ इधर से उधर लुढ़कता रहता है, जगह-जगह अन्य पत्थरों की टक्कर खाता रहता है और उसमें भी परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आकृतियाँ और भिन्न-भिन्न रूप वह पत्थर भी ग्रहण करता रहता है। यह आत्म भी इस चतुर्गति ससार में भटकती रहती है, इस कषाय रूपी पानी के साथ प्रवाहित होती रहती है। वहुत सी ठोकरें इसे लगी हैं। कभी इसने पशु का रूप धारण किया है, कभी दिव्य योनी प्राप्त की है तो कभी नरक में पहुँच कर भयकर यातनाओं का सामना भी किया है। मनुष्य भव में भी अनेक वार जन्म और मरण प्राप्त किया है किन्तु अव तक जो इसे साधना चाहिए था वह यह साथ नहीं पाया है। किनारा प्राप्त होते हुए भी किनारे पर अपनी नौका को लगा नहीं पाया है। क्या कारण है ?

कवि विनयचन्द जी परमात्मा के चरणों में भक्ति रस से अपने विचार व्यक्त करते हुए यही वात कह रहे हैं–

धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो, प्यारो प्राण समान
कवहु न विसरूं चित्तसू, सदा अखडित ध्यान।

अर्थात् अब मेरा स्वरूप जो मुझे ज्ञात हो पाया है मैं इसे बिसरू नहीं, भुलाये भी भूलू नहीं और निरन्तर अपने आत्मा भाव में रमण करता रहूँ । सम्बोधन परमात्मा को किया गया है किन्तु परमात्मा आत्मा से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है– *अप्पा सो परमप्पा।*

आत्मा ही परमात्मा का स्वरूप ग्रहण करता है। परन्तु जब तक यह ससार में परिभ्रमण करता रहता है, इसे आत्मा कह देते है। साधना का मार्ग स्वीकार कर लेते हैं तो उसे महात्मा कहते हैं और साधना करते हुए परम स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं तो उसे परमात्मा कहते हैं।

हमारी आत्मा में भी वह शक्ति है किन्तु क्या कारण है कि अनादिकाल से अनेक भवो में भ्रमण करते हुए हमने अनेक बार वीतराग वचनों को भी सुना किन्तु अब तक इसके प्रति जो अनुराग होना चाहिए, दृढ विश्वास होना चाहिए, वह यदि नहीं बन पाया है तो मनुष्य जन्म की सार्थकता क्या हुई ? कवि विनयचन्द जी कहते हैं–

इण पर लागी हो पूरण प्रीतडी,
जाव जीव परियत ।

भगवान अब तक मुझे भूले हुए थे। प्रीति नहीं लगी हुई थी। अब लग गई है। मैं जहॉ-जहॉ देखता हूँ मुझे परमात्मा के ही दर्शन होते हैं। जब व्यक्ति अपने दायरे को इतना विशाल बना देता है और परमात्म भाव में उपस्थित होता है तब वह प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के दर्शन करता है। मीरा चाहे महल में रही चाहे किसी गली-कूँचे में पहुँची, सव कहीं उसे वह कृष्ण कन्हैया की सलोनी सूरत ही दिखाई दी। रामायण को उठा कर देखें, राम चौदह वर्ष का वनवास पूर्ण करके अयोध्या में पहुँचते हैं। राम, सीता, लक्ष्मण सब पहुँच जाते है । सीता के मन में राम की चरण-उपासना करते हुए हनुमान के प्रति एक भाव जगा। पुरानी सारी बातें स्मृति पटल पर आ गई। अहो, यह हनुमान सबसे पहले राम का सदेश पहुँचाने वाला था। कहा मैं थी और कहा राम थे, इसने एक सेतु का काम किया। मुझे राम का सदेश दिया उस लका में, और मैं कहा हूँ, यह जानकारी राम को पहुँचायी। केवल सेतु का काम नहीं कर गया वल्कि लका से मुझे मुक्त कराने में इन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। राम के प्रति इसके मन में अथाह श्रद्धा है, अनुराग है।

हनुमान के प्रति अहोभाव पैदा हुआ। सोचने लगी कि मैं पहले जगल में थी, मेरे पास मे देने के योग्य कोई वस्तु नहीं थी और आज अयोध्या की रानी के रूप में विद्यमान हूँ। मेरे शरीर पर अनेक प्रकार के आभूषण लदे हैं। हनुमान को पुरस्कृत करना चाहिए। आपको मालूम है कि किस प्रकार से पुरस्कारित किया ? उन्होंने यह वचार नहीं किया कि कितने मूल्य की वस्तु दे रही हूँ। सहसा गले में पडा मोतियो का हार उतारा और हनुमान को दे दिया।

हनुमान रत्नों का हार लेकर एक जगह पहुँचे और पत्थर से एक-एक रतन को तोडने लगे। किसी ने देखा और कहा कि आखिर है तो यह नासमझ प्राणी ही, रत्नों का मूल्य क्या सम झे। तभी इसको रत्नों की माला मिली और यह पत्थर लेकर एक-एक रत्न को चूर-चूर कर रहा है। कई व्यक्ति पहुँच गए सीता के पास और कहने लगे 'आपने रत्नों का हार किसे दे दिया है, वह तो एक-एक रत्न को तोड रहा है।'

सीता को भी आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा हनुमान कोई साधारण प्राणी तो हैं नहीं, उसकी प्रज्ञा बडी निर्मल है फिर भी यदि वह ऐसा कार्य कर रहा है तो उसके पीछे कोई न कोई रहस्य होना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि रत्नों का हार प्राप्त हो जाने से उसकी प्रज्ञा पर मलिनता का आवरण पड जाये। सीता ने हनुमान को अपने पास बुलाया और पूछा 'तुमने इन रत्नों की ऐसी दशा क्यो बना दी है ?' हनुमान खडे रहे एक अपराधी की भाति। फिर पूछा गया 'क्या कारण है कि रत्नों के टुकडे कर दिये ? हनुमान कहने लगे 'मैंने इसमें अपने अर्थ को ढूढने का प्रयत्न किया है। मैं देख रहा था कि इनमें कहा पर राम है, हैं भी या नहीं। यदि राम नहीं हैं तो यह पत्थर मेरे किस काम के ?'

पूज्य गुरुदेव फरमाया करते हैं कि यदि कभी ऐसा समय आ जाये कि कोई इस प्रकार की घोषणा कर दे 'मैं अपनी सारी सपत्ति का वितरण करना चाहता हूँ और मैंने अपनी सारी सपत्ति को एक मैदान में लगा दिया है, इस प्रकार सारा का सारा बाहर लगा दिया है, अत. ठीक 10 बजे आ जाओ और जो कुछ ले जा सकते हो ले जाओ।' सोचिये कि वहाँ 10 बजे से पहले ही कितने लोग पहुँच जायेंगे और कितनी भीड़ लग जायेगी ?

बधुओ, विचार करना है, रत्नों का कीमती हार हनुमान को प्राप्त हो गया था किन्तु उन्होंने देखना यह प्रारभ किया कि उनमें राम है या नहीं। राम है, वह

सत है। राम का तात्पर्य वहा यह लिया गया है कि इसमे सत पदार्थ का स्वरूप है। यदि सत पदार्थ का स्वरूप नहीं है, यदि सत पदार्थ नहीं है, तो असत के साथ में अपना सबध नहीं बनाना चाहिए। इस आत्मा ने असत के साथ इतने सबध किये हैं इसलिए यह इस प्रकार परिभ्रमण करता रहता है और जब परमात्मा के सामने भी प्रार्थना नहीं करता तो यहा क्या प्रार्थना करेगा ?

कभी आप परमात्मा के नहीं, महात्मा के पास पहुँचते हैं तो वहा भी अपने दिल का दु ख महात्मा के समीप उद्‌गारित कर देते हैं। दु.ख उजागर करना एक बात है किन्तु वे चाहते है कि उनकी मनोकामना भी पूर्ण हो जाए। मनोकामना भी अनेक प्रकार की होती है। किसी के सतान नहीं है तो वह सतान की आकाक्षा करता है, किसी के पास धन-वैभव नहीं है तो वह उनकी कामना करता है। किन्तु यह कितने व्यक्ति चाहते है कि मैं जिस साधना मार्ग पर चल रहा हूँ उस पर अविराम गति से चलता रहूँ। इस प्रकार के विरले व्यक्ति ही मिलेगे जो यह चाहते होगे कि उनकी साधना अविराम गति से चलती रहे। किन्तु भीतर जब इस प्रकार की अनुभूति नहीं होती है तो व्यक्ति भौतिक पदार्थो में ही लिप्त रह जाता है तव वह यह सोचता है कि यदि भौतिक पदार्थ नहीं है तो मेरा भी कोई अस्तित्व नहीं। आज के युग का दारोमदार भौतिक सम्पदा पर ही है। रुपया जिसके पास है उसी की तूती बोलती है। इसलिए लोग इसके प्रवाह मे बहने लगे हैं। सोचते है कि हम भी सपत्ति प्राप्त कर लें किन्तु यह नहीं सोचते कि सपत्ति प्राप्त होने के बाद वह कितने कष्ट देने वाली बन जाती है। वह व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण नियत्रण में लेकर उसका सुख, चैन, शान्ति सब कुछ छीन लेती है। इस सबध मे एक दृष्टात भी है।

एक सेठ की हवेली के सामने एक छोटी सी झोपडी मे एक पहलवान रहता था जो दण्ड-बैठक, कसरत आदि करता रहता था। खा-पीकर निश्चित होकर मस्ती में अपना जीवन व्यतीत करता था। सेठ रोज उस पहलवान को देखता और विचार करता कि इसकी जिन्दगी कितनी मौज-मस्ती की है। इसके पास ज्यादा धन-वैभव नहीं है फिर भी इसके चेहने पर आभा है। खाता-पीता और चैन की नींद सोता है जवकि मेरे पास इतनी सपत्ति है, वहुत वडी हवेली है, घर के भीतर तिजोरियों में धन भरा हुआ है किन्तु रात को नींद भी अच्छी तरह से नहीं आती है। उसके मन मे अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प चलते रहते थे, थोडी सी भी आहट होती है तो नींद खुल जाती है, कान खडे हो जाते हैं कि कहीं कोई चोर तो नहीं आ गया। सही अर्थ में तो वह उस सपत्ति का चौकीदार वन गया था।

सेठ ने अपने मुनीम से पूछा 'क्या कारण है कि पहलवान विपन्नावस्था मे भी इतना मस्त रहता है ?' मुनीम ने कहा 'यह अभी निन्यानवे के चक्कर मे नहीं पडा है और जब तक उसके चक्कर से बाहर रहेगा मस्त रहेगा परन्तु जैसे ही निन्यानवे के चक्कर मे पडेगा इसकी दशा भी वैसी ही हो जायेगी जैसी आपकी है।' सेठ ने यह बात नहीं मानी इस पर मुनीम ने कहा, 'कोई बात नहीं मैं आपको प्रमाण दे दूँगा। आप एक थैली में 99 सोने की अशर्फिया रखें और मुझे दे दें। मैं उस थैली को जब पहलवान नहीं होगा तब उसके घर में रख दूगा। उसके बाद आप तमाशा देखना'।

सेठ ने 99 सोने की अशर्फियों से भरी थैली मुनीम को दे दी। जब पहलवान घर में नहीं था तब जाकर मुनीम ने वह थैली उसके घर में रख दी। जब पहलवान आया तो उसकी दृष्टि उस थैली पर पडी। खोलकर देखा तो उसमें सोने की अशर्फिया भरी थी। उसने सोचा कि गिनू तो सही कितनी हैं ? गिनने पर देखा ये 99 थीं। उसके मन में आया कि भगवान मेरे ऊपर मेहरबान हैं। लोग ठीक कहते हैं कि ऊपर वाला देता है तो छप्पर फाडकर देता है। यदि भगवान ने यह सपत्ति दी है तो मुझे उनका प्रसाद मानकर इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

खा-पीकर जब वह रोज की तरह सोने के लिये लेटा तो उसके विचार आया भगवान ने दीं तो 99 अशर्फिया ही हैं। अब मैं भी अपनी तरफ से कुछ प्रयत्न करके इन्हें 100 तो बना दूँ। इस एक अशर्फी को पाने के लिए उसके मन में अनेक योजनाएँ बनने लगीं– क्या करूँ, कैसे करूँ ? अब वह सुबह उठकर व्यायाम नहीं करता, सोचता कि उसमे समय फालतू जायेगा। उसने जगह-जगह मेहनत करना प्रारम्भ कर दिया और अपनी पुरानी सारी दिनचर्या को बदल डाला। खाने में भी अब वह कटौती करने लगा। इस प्रकार से वह एक अशर्फी प्राप्त करने में जुट गया। इसी चिन्ता में उसका शरीर दुर्बल होता गया। एक महीने के बाद जब सेठ ने उस पहलवान को देखा तो वह उसे पहचान नहीं पाया। सेठ ने अपने मुनीम से पूछा 'यह क्या मामला है ?' तो मुनीम बोला 'यह वही पहलवान है लेकिन अब यह निन्यानवे के फेर में पड़ गया है, लालच के चक्कर में पड़ गया है। जैसे-जैसे लाभ होता जाता है। वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता जाता है। ऐसा नहीं है कि उसने उन 99 अशर्फियों को 100 न कर लिया हो। अब तो उसके मन मे यह बात बैठ गई है कि यह एक थैली ही 100 की क्यों रहे, मैं एक और थैली 100 अशर्फियों की क्यों न बना लूं। आप ने अब देख लिया कि जब व्यक्ति 99 के चक्कर में पड जाता है

तो उसका सारा सुख-चैन नष्ट हो जाता है।'

हनुमान ने तो कहा था कि वे यह देखना चाहते थे कि उन रत्नों में राम थे या नहीं। रामायण में तो यह भी प्रसग है कि जब उनसे पूछ लिया गया कि तुम इतनी बात तो कह रह हो परन्तु क्या तुम्हारे हृदय में भी राम हैं ? तब उन्होंने अपने कलेजे को चीर कर दिखला दिया था कि उसमें भी राम रहते थे। हम भी कवि के कथन पर विचार करें—मेरी उनसे प्रीत लग गई है। आज क्या कोई अधिकारपूर्वक यह बात कह पायेगा कि मेरे भीतर भी परमात्मा बैठे हैं, मैं परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला हूँ, वे मेरे भीतर विद्यमान हैं, मैं उनका अनुभव कर रहा हूँ ? बधुओं, परमात्मा कहीं दूर नहीं है वह तो घट-घट में विराजित है। उसे जगाना है, उसे अपने स्वामीपन का बोध करवाना है। अभी तो वह परमात्मा चौकीदार बना हुआ है। कभी परिवार का, कभी धन और कभी वैभव का। हमें उसके सही स्वरूप को समझना है। इसलिए कवि कह रहे हैं कि अब नींद का समय नहीं है—

उठ जाग रे चेतना, नींदिया उडा दे मोह राग की।

एक व्यक्ति की सोने की चेन गुम हो गई। उसने उसे बहुत ढूढ़ी लेकिन वह मिली नहीं। किसी ने कहा 'तुमने चमत्कारी बाबा का मदिर तो देखा है न, उनका स्मरण किया या नहीं ? वहा पर एक बोलवा कर दो तुम्हें जजीर मिल जायेगी।' सोने की जजीर कम से कम 5-4 हजार रुपयों की होगी। उसने सोचा बहुत सस्ता काम है, यदि 11 रुपये में मिल जाए। उसने बोलवा कर दी। सयोग की बात है कि जजीर मिल गई। अब वह विचार करने लगा कि मुझे 11 रुपये उस मदिर में चढ़ाने हैं। जब वह मदिर में पहुँचा तो सोचने लगा कि रुपये क्या काम आयेगे, यहा तो प्रसाद चढ़ाना चाहिए और प्रसाद के साथ उसने उस मूर्ति के सामने दो मिनट इतजार किया, फिर सोचा कि कौन से भगवान आकर वहा पर प्रसाद ग्रहण करने वाले हैं ?फिर विचार किया कि प्रसाद के पीछे बच्चे लग जाते हैं। उनके पेट मे पहुँचे या नहीं पहुँचे बाल-बच्चे खा लें तो भी उनके पेट में पहुँच गया ही समझो। ऐसा मान कर वह प्रसाद भी ले गया।

व्यक्ति अपने स्वार्थ में कहाँ तक सोच जाता है यह देखने की बात है। तब वह यह भी भूल जाता है कि उसका असली स्वरूप क्या है। कवि विनयचन्द जी ने इसीलिये कहा है कि इस भव-भव में तुम न जाने कब से भटक रहे हो अब

यह मौका आया है अभी भी यदि परमात्मा के साथ सच्ची प्रीत लगा लो तो तुम्हारे भीतर जो लौ जगेगी उससे तुम्हारे जीवन का रूपान्तरण हो जायेगा और तब हर जगह पर परमात्मा की अनुभूति कर पाओगे। परन्तु ध्यान रखो कि यह अनुभूति भी हृदय की शुद्धि और प्रज्ञा की निर्मलता के बिना नहीं हो पाती है। जब प्रज्ञा निर्मल बनती है तभी व्यक्ति परमात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न कर सकता है।

इस प्रकार मुख्य बात जान लेने की है। जो जान नहीं पाता वह केवल दावेदार बनता है और केवल चौकीदारी करता है। परमात्मा के प्रति जब हृदय में भाव बनते हैं तब प्रज्ञा भी निर्मल बनती है और सफलता का सूत्र प्राप्त हो जाता है। प्रज्ञा निर्मल नहीं बनती है तो उस पर मलिनता आ जाती है परिणामस्वरूप सामने रहे हुए विषय को भी वह नहीं जान पाता है। हमे अपने भीतर बसे हुए परमात्मा को खोज कर प्रकाशित करना है तभी हमारा जीवन मगल दिशा की ओर आगे बढ पायेगा।

कई बार कहा जाता है कि युवक और युवतिया धर्म से दूर हैं। यथार्थ में वे धर्म से दूर नहीं हैं। धर्म समझ लेने के बाद वे उसके प्रति उन्मुक्त भाव से समर्पित हो जाते हैं। आचार्य देव के शासन में आप देखते हैं कि किस प्रकार तरुण और युवतियाँ प्रभु महावीर के शासन के प्रति समर्पित हो रहे हैं।

कभी-कभी जो प्राप्त नहीं होता है उसे प्राप्त करने की साधक को बडी ललक रहती है और प्राप्त होने के बाद वह व्यक्ति धन्य हो जाता है। यही स्थिति वैराग्य भाव की प्रगाढता एव साधु जीवन प्राप्त करने की ललक के साथ भी है। ऐसे साधकों के लिए प्रभु महावीर कहते हैं कि प्रगाढ भाव से तुम साधु जीवन को प्राप्त करना चाहते हो उतनी ही प्रबल भावना से उसका पालन करना तथा सयम साधना करते हुए प्रभु महावीर के शासन को रोशन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति आत्मभाव में रमण करे, स्वय को सयमित करे तथा आजीवन सयम-मर्यादा का पालन करने के लिए कटिबद्ध रहे, ऐसी स्थिति में आप भी अपनी क्षमता के अनुसार प्रतिज्ञा धारण करें कि क्रोध नहीं करना है, अहंकार नहीं करना है, छल-छद्म में नहीं पड़ना है और जिदगी भर प्रतिज्ञा का पालन करें। इस प्रकार यदि आप अपनी क्षमता के अनुसार कमी भी प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञायें लेकर अपने जीवन को परिमार्जित करेंगे तो आपका जीवन मगलमय बनेगा।

❑

आत्मस्वरूप की पहिचान

भक्त की सदा यह कामना रहती है कि वह भगवान से दूर न रहे क्योंकि भगवान से बडा उसका हित-चिन्तक और कोई नहीं होता। कवि विनय चदजी ने इसीलिये प्रार्थना में कहा है–

कुथ जिनराज तू ऐसो,
नहीं कोई देव तो जैसो।

प्रभु से मिलन की उनकी उत्कण्ठा इतनी प्रबल है कि वे प्रभु से दूर रहना ही नहीं चाहते इसीलिये वे प्रार्थना करते है– " न राखो अतरो मो से।' कवि विनय चद जी के समान उत्कट भक्ति करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की चिन्ता भी यही होती है कि उसके और भगवान के बीच अन्तर न रहे। तब विचारणीय यह है कि यह अन्तर कौन उत्पन्न करता है ? भक्त को भगवान से मिलने देने के बीच बाधा कौन बनता है ? कोई भी सिद्ध भगवान अन्य किसी को सिद्ध बनने देने में बाधा नहीं पहुचाते। सिद्ध क्षेत्र में न स्थान का अभाव होता है न वहॉ प्रवेश रोकने की इच्छा। सिद्ध क्षेत्र का अपार विस्तार है। प्रयास करने पर कोई भी आत्मा उस क्षेत्र में प्रवेश कर सकती है। इस प्रकार मुख्य बात पात्रता की है। यह पात्रता आत्म साधना के मार्ग पर सकटों में भी अडिग रह कर निरतर गतिमान बने रहने से प्राप्त होती है। आत्म साधना के ऐसे उच्चतम आदर्श हैं भगवान महावीर। अपनी साधना में लीन रहकर भी उन्होंने लोकोपकार के मार्ग का त्याग नहीं किया। दास प्रथा के उस युग में भी उन्होंने मानव अस्मिता की रक्षा का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। दासी चदन- बाला से भिक्षा-ग्रहण कर उन्होंने प्रत्येक आत्मा की भव्यता के विचार को पुष्ट किया। सत्य, न्याय

और मानवता की रक्षा के हित उन्होंने कठोरतम परिषह सहे। उनके सम्मुख मार्ग स्पष्ट था– एक ऐसी सस्कृति का निर्माण, एक ऐसे मार्ग का अनुसधान, जो सर्व कल्याणकारी हो।

सस्कृति के मूल्य अक्षुण्ण होते हैं परन्तु उनके प्रति लगाव की भावना भी उत्कट होनी चाहिये। भारतीय सस्कृति की तो यह विशेषता रही है कि घोरतम सकट भी उसका अहित नहीं कर सके। फिर भी यदि उसका प्रभाव सीमित रहा है अथवा उसमें आस्था के उपरान्त भी अपेक्षित प्रगति सभव नहीं हुई है तो उसका कुछ कारण अवश्य होगा। इस कारण को समझने के लिये स्वामी विवेकानद के जीवन से संबधित एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा।

स्वामी विवेकानन्द जापान प्रवास पर थे। उनके भाषणों की धूम मची हुई थी। भारतीय सास्कृतिक गौरव की चर्चा तथा लोक मगल मे उसकी भूमिका ने लोगों को गभीरता से आकर्षित किया था परन्तु उसकी प्रभावशीलता पर कुछ लोगों को सदेह भी था। ऐसे ही एक सदेहशील जिज्ञासु विद्वान ने उनसे प्रश्न किया– "हमने भारतीय सस्कृति के इतिहास का अध्ययन किया है, हमें पता है कि वेद, उपनिषद्, आगम साहित्य तथा उत्तराध्ययन जैसे ग्रथों तथा महान् चरित नायकों, तीर्थंकरों, दार्शनिकों एव ज्ञानियों आदि के विवरणों से वहाँ का सास्कृतिक इतिहास सम्पन्न रहा है और अभी भी वह सस्कृति पूर्णत जीवन्त है, फिर ऐसा क्यो है कि वह महिमामय देश अज्ञान, अशिक्षा, गरीबी, अधविश्वास आदि के पक में फँसा हुआ है ? ऐसी दुर्गति के पीछे कौनसे कारण हैं ?"

स्वामी विवेकानन्द ने अत्यत सहज भाव से उत्तर दिया, "महोदय, यदि हमें बन्दूक उपलब्ध हो, उसमें बारुद भी भरा हुआ हो किन्तु हम यह न जानते हों कि उसका ट्रिगर कहाँ है और हम निशाना साध कर उसे दबाना न जानते हो तो वह बन्दूक हमारे कौन से काम आ सकती है ? वह हमारी रक्षा कदापि नहीं कर सकती। ऐसी ही दशा आज भारतवर्ष की है।"

सत्य है कि इतनी उन्नत सस्कृति के होते हुए भी हम अपने आप को दीन-हीन समझ रहे हैं और विदेशी परम्पराओ और विचारों के दीवाने बने हुए हैं। हमें विदेशी चिन्तन आकर्षित करता है और उसी के चश्में से हम अपनी सस्कृति को देखते हैं। यदि विदेशी किसी भारतीय वस्तु, विचार अथवा विश्वास को महत्त्वपूर्ण कह देते हैं तो भारतीय भी वैसा ही कहने लगते हैं। भारतीय ग्रथों, धर्मों और

मान्यताओं के सबध मे भी कुछ ऐसा ही हुआ है। पता नहीं क्यों हम अनोखी हीन भावना से ग्रस्त है और विदेशियो के सोच और विचारों को महत्त्व देते रहते हैं। डॉ. हर्मन जैकोबी ने जैन सिद्धान्तों की महिमा पर जब अपने विचार व्यक्त किये तब भारतीय जैन भी उनके प्रति आकर्षित हुए। उन्होने सोचा कि जब एक विदेशी जैन धर्म की महिमा का गुणगान कर रहा है तब निश्चय ही उसमें कुछ विशेष गुण होंगे। यह अत्यत दयनीय स्थिति है– विश्वास अथवा महिमा–स्वीकरण भी विदेशी माध्यम से आता है। बुद्धि और चिन्तन का इस प्रकार पराधीन होना निश्चय ही पीडा और चिन्ता की बात है।

जरा विचार करे कि किसी महिला के मोतियाबिन्द हो गया हो, डाक्टर उसकी ऑखो का ऑपरेशन कर दे तथा ऑपरेशन की सफलता की जॉच हेतु उसके सामने हथेली फैलाकर पूछे कि कितनी अगुलियॉ हैं और वह महिला कह दे ''पडोसन से पूछ कर बताऊँगी कि मुझे पाच अगुलियॉ दिखाई दे रही हैं, वह कहेगी तो मैं कह दूँगी।''

हमारी मानसिकता भी ऐसी ही है। हमारे सस्कारों, विचारों, सस्कृति, ग्रन्थों, मान्यताओं आदि की प्रशसा जब कोई विदेशी कर देता है तब हम भी उस पर गर्व करने लगते हैं और उसकी प्रशसा में जमीन आसमान एक कर देते हैं अन्यथा उसके प्रदेय को अधे बन कर या तो नकारते रहते हैं या उसकी घोर उपेक्षा करते रहते हैं। आखिर किसी मैक्समूलर, टैसीटरी या टॉड की जरूरत संस्कृति, साहित्य, धर्म और इतिहास को समझने के लिये क्यो होनी चाहिये ? हम कालिदास को भारत का शेक्सपियर और तुलसीदास को भारत का मिल्टन कहते हैं, यह क्यों नहीं कहते कि शेक्सपियर इग्लैण्ड का कालिदास और मिल्टन इग्लैण्ड का तुलसीदास था ? वास्तविकता तो यह है कि वे लोग तो बहुत बाद की उत्पत्ति थे और दोनों भारतीय लेखकों की तुलना में पॉसग भर भी नहीं ठहरते। जब कोई जाति या समाज अपना सम्मान और चिन्तन इस प्रकार गिरवी रख देता है तब उसका हश्र वैसा ही होता है जैसा भारत का हुआ है। इसी मानसिकता का परिणाम है कि विदेशी सभ्यता को भारत की सस्कृति पर हावी होने दिया जा रहा है। परिणाम है सस्कार भ्रष्ट समाज का विकास, अपसस्कृति का प्रसार, मर्यादाओ का उल्लघन और पतन की स्थितियो का निर्माण। कब तक हमारा देश विदेशियों के मत, स्वीकृति और प्रशसा का भिखारी बना रहेगा ? भारतीय सस्कृति में जैन सस्कृति और दर्शन का कितना गरिमामय स्थान है यह यदि जैन मतावलम्बियों को भी बताना पड़े तो अत्यत दु.ख

की बात है परन्तु स्थिति आज ऐसी ही बन गई है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के चार तीर्थ प्रभु महावीर ने स्थापित किये थे, उनके प्रति हमारे मन में क्या भाव है? हमारी मानसिकता क्या है ? हम भगवान महावीर के उपदेशों का अनुसरण करने के प्रति कितने ईमानदार हैं ? धर्म की मर्यादा एव धर्मानुशासन के पालन में हमारी कितनी आस्था है ? ये कतिपय ऐसे प्रश्न हैं जो विचारणीय हैं।

विचारणीय यह भी है कि आज देश का व्यक्ति किन और कौन से सस्कारों में जी रहा है। उसमें कौन से और कैसे सस्कार डाले जा रहे हैं तथा उसके चिन्तन की दिशा कौन सी है। विदेशी दासता से हम अवश्य मुक्त हो चुके हैं परन्तु विदेशी सस्कारों की दासता से मुक्त होना अभी शेष है। दासता की स्थिति से सच्ची मुक्ति तो तभी मिलेगी मानसिक और सास्कृतिक दासता से भी अपने आप को मुक्त कर लेंगे। इस मुक्ति का प्रयास तो हमें, प्रत्येक को स्वय करना होगा। टी वी जैसे प्रसार माध्यमों ने यह कार्य अत्यत कठिन कर दिया है। टी.वी. पर कार्यक्रम देखते समय दर्शक यह ध्यान भी नहीं रख पाते कि वे किन के बीच बैठ कर कौन से कार्यक्रम देख रहे हैं और इस स्थिति का प्रभाव उन साथ वालो पर क्या पडेगा। बुद्धि, विचार, चिन्तन और जीवनचर्या को दूषित करने में ऐसे कार्यक्रमों की जो भूमिका रही है और इस कारण पीडन और विघटन की जो स्थितिया उत्पन्न हुई है उनसे सभी लोग चिन्तित व दुःखी है।

आज वैज्ञानिक भी भौतिक खोजों से ऊब चुके हैं। आखिर उन्होंने वैसी खोजों के माध्यम से क्या प्राप्त किया ? क्या वे सुख, शान्ति, सतोष और मुक्ति की अधिक सार्थक स्थितियों का निर्माण कर पाये हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि अपनी तथाकथित चमत्कारिक खोजों द्वारा उन्होंने सुख शान्ति सतोष और मोक्ष की स्थितियों और मानसिकता को नष्ट किया है ? निश्चित रूप से उन्होंने ऐसा किया है ? तभी वे भीतर की खोज की ओर मुडे हैं। वे उस तत्त्व की खोज करना चाहते हैं जो मनुष्य को स्पंदित करता है, संवेदति करता है। परन्तु मूर्त पदार्थो से अमूर्त तत्त्व की प्राप्ति क्या सभव है ? भगवान महावीर ने भी कहा है– " अमूर्त आत्मा इन्द्रियो से प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये यदि हमारे संस्कार आत्मा तक नहीं पहुंचेंगे तो ऊपर का सारा तामझाम किसी काम आने वाला नहीं है। मुख्य बात भीतरी सस्कारों की है।

कवि विनयचदजी की भावना का महत्त्व यहीं समझ में आता है। वे कहते हैं "उमा हो मिलने को तो सों, न राखो आतरो मों सों।" भगवान, जैसी सिद्ध अवस्था आप की है, वैसी ही चैतन्यता मेरी है– "सिद्ध जैसो जीव है, जीव सो

हीं सिद्ध हो, कर्म मेला आतरा।"

भगवान और भक्त मे अतर नहीं है। अतर केवल बीच में पडे पर्दे का है। वह पर्दा हट जाता है तो कोई बाधा नहीं रहती। ऐसी अवस्था प्राप्त करने की तैयारी तभी पूर्ण होती है जब बाहर के सस्कार उसकी आत्मा तक पहुँच जाते हैं तथा भीतर का व्यवहार और आचरण व्यक्ति को प्रभावित करने वाला बनता है। कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति कोई कार्य करना चाहता है तब उसकी आत्मा निर्णय देती है कि उसे वह कार्य करना चाहिये या नहीं। यदि उसकी आत्मा जाग्रत है और वह सुसस्कारी है तो वह आत्मा के निर्णय को स्वीकार कर उसके आदेशानुसार कार्य करता है। जब विचार शुद्ध होते हैं तो भाव शुद्ध बनते है और व्यक्ति का आचार भी शुद्ध होता है। विचार, भाव और आचार जब तक शुद्ध नहीं होते तब तक न सस्कार शुद्ध होते है न मोक्ष प्राप्ति के लिये तैयारी ही पूर्ण होती है।

ज्ञान के बिना क्रिया नहीं हो मकती, उसके लिये मबसे पहले अपने सस्कारो को जगाना होगा। इस दृष्टि से श्रावको का प्रमुख दायित्व है कि वे आचार्य देव के निर्देशानुमार अपने सस्कारो को ढालें। यदि वे सही दिशा मे अग्रसर हो गये तो उनकी भावी पीढियो का भी निश्चित रूप से उद्धार हो जायेगा। यह कार्य कठिन भी नहीं है क्योकि व्यक्ति मे अनुकरण की प्रवृति होती है। बालक भी अपने अभिभावको का अनुकरण करता है। सस्कार क्रान्ति हेतु श्रावको को प्रथम स्वय को सुसस्कारित करना होगा। सस्कृति की रक्षा का भी यही मार्ग है। अत· हम सब चिन्तन मनन करे कि प्रभु महावीर की देशना के प्रति हममें कितनी निष्ठा है, कितनी समर्पणा है, उनके द्वारा दिखाये गये मार्ग के अनुसरण मे हमारा मन डॉवाडोल तो नहीं है। इस प्रकार आत्मचिन्तन कर आत्मनियत्रण की स्थिति प्राप्त करे तभी धर्म और सस्कृति की रक्षा सभव है। आत्मा जब इस प्रकार कुसस्कारों से मुक्त होगी तभी वह स्थिति बनेगी जिसमे भक्त और भगवान के बीच का अतर समाप्त होगा और हम स्वय कुन्थुनाथ भगवान के स्वरूप को प्राप्त कर पायेगे।



एगे जिए जिया पंच

आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व प्रभु महावीर ने आत्मभाव को प्राप्त करने का जो उपदेश दिया था वह आज भी उतना ही प्रासगिक है जितना वह उनके युग मे था क्योंकि उसमें वह शाश्वत सदेश निहित है जो मनुष्य को जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है। *उत्तराध्ययन* सूत्र में भी कहा गया है *'एगे जिए जिया पच'* जिसने एक को जीत लिया उसने पाच को जीत लिया। और जो पॉच को जीत लेता है उसकी विजय यात्रा का रथ कोई रोक नहीं सकता और अतत वह स्वय पर भी विजय प्राप्त करने में सफल हो जाता है। इसीलिये उस 'एगे' अर्थात् मन पर विजय पाना प्रथम आवश्यकता है क्योंकि वही आत्मा की पहिचान में बाधक बनता है। यह आवश्यकता पूरी कैसे हो ?

हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति विजय चाहता है, पराजय कोई नहीं चाहता। कहीं पर यदि द्वद्व हो रहा हो, प्रतियोगिता हो रही हो, हार और जीत का प्रसग सम्मुख हो तो हम किसको चाहेगे ? चाहेंगे हम हार जायें ? नहीं। हारना कोई नहीं चाहता। भावना मन में भी यही रहती है कि हम विजय प्राप्त कर लें किन्तु विजय प्राप्त कैसे हो ? उत्तर स्पष्ट है। सबसे पहले एक पर विजय प्राप्त कर लो, फिर दूसरों पर विजय प्राप्त करने में अधिक विलम्ब नहीं होगा।

स्वामी रामतीर्थ से सबधित एक प्रसग है। एक बार स्वामीजी हसते हुए आ रहे थे। लोगों ने देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ– आज इन्हें क्या हो गया है, बहुत हस रहे हैं। किसी ने पूछ ही लिया, 'स्वामीजी आप इतना हँस क्यो रहे हैं ? स्वामी रामतीर्थ ने उत्तर दिया, 'पिछले चौराहे पर कुछ व्यक्ति राम को गालियाँ दे रहे थे,

राम की निन्दा कर रहे थे, इसी पर मुझे हँसी आ रही है।'

'लोग आपको गालियाँ दे रहे थे और आपको हसी आ रही है ?''

उन्होने स्थिति स्पष्ट की, 'बात यह है कि वहाँ पर मै हँसने लगा तो लोग कहने लगे कि आपको गालियाँ दी जा रही हैं और आप हँस रहे है ? तो मैंने कहा कि गालियाँ मुझे कहाँ दी जा रही है, गालियाँ तो राम को दी जा रही हैं, परन्तु लोग समझे ही नहीं।'

बात बिलकुल सीधी है। नाम क्या है ? वह तो मात्र सुविधा के लिये रखा गया एक चिह्न है परन्तु लोग उसे ही अपना परिचय मान लेते हैं, इसीलिये इतनी सारी समस्याएँ हैं। मान लीजिये सौ व्यक्ति प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए हैं। अर्द्ध रात्रि का समय है और कोई व्यक्ति जोर से आवाज लगाता है– 'आत्मा, आत्मा!' तो कितने व्यक्ति खडे होंगे ? एक भी नहीं । परन्तु यदि वही व्यक्ति नाम लेकर पुकार ले 'सोहनलालजी !' तो जिसका नाम 'सोहनलाल' है वह उठकर खडा हो जायेगा। क्या कारण है ?' रामतीर्थ ने स्पष्ट किया, 'जो लोग यह मानते हैं कि मैं राम हूँ, वे लोग भ्रम में हैं। यह जितने भी नाम हैं क्या सब यथार्थ हैं ? सब सुविधा के लिये हैं।'

अरबों लोग इस ससार में रह रहे हैं। नाम यदि अलग-अलग न हों तो क्या किसी का व्यवहार चल सकता है ? इसी सुविधा के लिये हमने नाम को स्वीकार किया है और वहीं तक उसकी महिमा भी है। किन्तु हुआ यह है कि उस नाम के पीछे हम स्वय अपने आपको भुला बैठे हैं इस प्रकार जो हमारे उपयोग के लिये होना चाहिये था हम उसका उपयोग हो बैठे है। अब नाम आता है तो हम सुन लेते है और यदि 'आत्मा-आत्मा' कहे तो नहीं सुनते हैं। 'मैं' में यह व्यक्ति उलझ जाता है– व्यक्ति जो पैदा करता है उसी मे उलझ जाता है। स्वय को इस प्रकार भूल जाने के कारण ही उसके सामने परेशानिया खडी हो जाती हैं।

उपनिषद् मे एक दृष्टात आया है। एक शिष्य गुरु के पास पहुँचा, आत्मा का वोध करने के लिये। वातें चलती रहीं कि क्या ये इन्द्रियाँ आत्मा है या इन्द्रियाँ आत्मा नहीं है ? आँख, नाक, कान आदि सुविधा के लिये प्राप्त हुए हैं क्योंकि इस ससार में रहते हुए व्यवहार के लिये इन सब से प्राप्त होने वाली सुविधाओं की आवश्यकता है। कैवल्य ज्ञान हो जाने के वाद इनकी आवश्यकता नहीं रहती। इनकी आवश्यकता तव तक रहती है जव तक भीतर की शक्ति जाग्रत नहीं होती।

इनके माध्यम से आत्म ज्ञान भी करते हैं किन्तु जब अहकार सम्मुख खडा हो जाता है तब वह स्वय को भुला देता है।

स्वामी रामतीर्थ ने स्पष्ट किया था, ''मैं न राम हूँ, न कृष्ण हूँ। आज मेरा नाम 'राम' है कल 'कृष्ण' रख दिया जाय तो मेरे अन्दर क्या परिवर्तन होने वाला है ? मैं तो जैसा हूँ और जो हूँ, वही और वैसा ही रहने वाला हूँ।' दूसरी बात आपको कह दू, वह बहुत मजेदार है। जितने भी नाम आपने रखे हैं वे सब दूसरो के लिये हैं। कभी आपको स्वय को पुकारना हो तो किस नाम से पुकारेंगे ? अपना नाम लेंगे ? कोई कहे कि स्वय से प्रश्न कर लो तो क्या यह प्रश्न करेंगे 'राम कहाँ जा रहा है ? इसे तीसरे व्यक्ति से प्रश्न माना जा सकता है और यदि तीसरा व्यक्ति वहाँ नहीं है तो तुम्हे पागल समझा जायेगा। स्वय अपने को 'मैं' कहते हैं, तत्त्व के रूप में देखते हैं, किन्तु नाम के जाल के आगे वह भी सुषुप्ति में चला जाता है, इसीलिये प्रभु महावीर ने कहा था– एक पर विजय प्राप्त कर लो तो सब पर तुम्हारी विजय हो जायेगी।

उस एक पर जो विजय प्राप्त करनी है वह किसी बाहर के अस्त्र-शस्त्र से प्राप्त होने वाली नहीं है, उसके लिये स्वय को ही मिटाना होगा। जो 'मैं' तत्त्व सामने आ रहा है उसे मिटाइये। ऊपर वाले 'मै' को नहीं मिटाया तो 'सोहम्' को हम प्राप्त नहीं कर पायेंगे। जो अहकार के पीछे छिपा हुआ है उसे कहा जा रहा है कि वह तुम हो, अरे वही आत्मा हो। इसी आत्मा की खोज के हेतु भगवान महावीर ने जो देशना दी थी वह आज भी हमारे मार्गदर्शन हेतु प्रस्तुत है। विचारणीय यह है कि इस आत्मबोध को हमने प्राप्त किया या नहीं अथवा नाम के पीछे ही भटक रहे हैं ? मनुष्य की प्रमुख भूल ही यह है कि जो जड है, नाशवान है, परिवर्तनशील है उसे तो वह प्रमुख मान लेता है और जो अविनाशी, अनित्य और अपरिवर्तनशील है उसे गौण। वह शरीर को मुख्य मान कर काम करता है, उसकी निन्दा को अपनी निन्दा और उसके आदर को अपना आदर मानता है। चेतन को इस प्रकार भुला देने की प्रमुख भूल आगे की भूलों के लिये भी मार्ग खोल देती है। लोग कहते हैं 'मै बड़ा हो गया हूँ, मेरा निरादर हो गया है, मेरी बात नहीं रही तुम्हारी बात रह गई .।' इस न रहने वाली बात की भी क्या कोई सत्ता है ? इसकी भी क्या कोई महत्ता है ? परन्तु इसकी महत्ता मान ली जाती है। सभी परस्पर क्लेश इसी कारण होते हैं– सभी 'मैं' का वर्चस्व, 'मैं' की विजय और 'मैं'

की प्रतिष्ठा चाहते हैं।

कल्पना करे कि परिवार बहुत बड़ा हो गया है, काम की सुविधा के लिये एक नौकर रख लिया गया। अब वह नौकर ही यदि मालिक बन जाय और मालिक नौकर का गुलाम, तो उस स्थिति को क्या कहेंगे ? नाम के साथ ऐसा ही हुआ है। इसलिये वीतराग देव प्रभु महावीर के बोध को जानो, अपनी आत्मा को पहिचानो क्योंकि नाम से तो भ्रम ही होता है। आत्मा ही अनेक नाम धरती है । यदि नाम की ही चिन्ता करेंगे तो नामों की एक लम्बी सूची ही बन जायेगी। केवल्य ज्ञानी महाप्रभु भी यह तो कह देते हैं कि उन्होंने अनन्त जन्मो में अनेक नाम धराये हैं परन्तु सभी नामों की गणना करा पाना उनके लिये भी सभव नहीं। विष्णु सहस्रनाम में विष्णु के नामों को अकित करते-करते जब सहस्र नाम हो गये तो कहा गया कि अब तो पूरे हो गये होगे। तब उत्तर मिला अभी कहॉ, लिखते जाओ, एक नहीं हजारो 'विष्णु सहस्री' बन जायेंगी। फिर भी नाम पूरे नहीं हो पायेंगे। अतः आवश्यक है कि जिसे सुविधा के लिये अपनाया है उसको सुविधा के रूप में रखें और स्वय की आत्मा की पहिचान करने की कोशिश करें कि 'मैं कोन हूँ, कहॉ से आया हूँ, और क्यों आया हूँ, और जिस क्षण यह बोध हो जायेगा कि 'मैं ज्ञान और दर्शन से सयुक्त आत्मा हूँ और अपने स्वरूप को प्राप्त करने के लिये आया हूँ,' उसी क्षण सारे विकल्प शान्त हो जायेगे। यह एक को जीतना है। एक की इस जीत के उपरात वे पंचेन्द्रियॉ स्वतः ही वश मे हो जायेंगी जिनकी विजय कठोरतम तप के उपरान्त भी सदिग्ध रहती है।

लोभ, मोह, तृष्णा, माया और कामना का जव दमन हो जाता है तव उन पच महाव्रतों की सिद्धि भी हो जाती है जो वीतराग अवस्था की प्राप्ति का अतिम सोपान है। अहिसा और ब्रह्मचर्य व्रतों का पालन, सत्य का अनुसरण तथा अस्तेय और अपरिग्रह मे आस्था तन के शोधन का ही नहीं मन के शोधन का मार्ग भी है। मन भी अत मे उस वृत्ति के निर्माण में सहायक होता है तो आत्मसाक्षात्कार की दिशा मे ले जाता है।

मन की शक्ति अपरिमित है। मन जिसे मान लेता है उसमें जिज्ञासा नहीं होती, शका नहीं होती। इसलिये कहते हैं कि मानना ही हो तो उस आत्मा को मान लो। फिर जैसे वोध हो जाने पर अज्ञान नहीं होता, ऐसे ही मान लेने पर उल्टा नहीं होता। मानना और जानना दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं जिनका चयन मनुष्य के

विवेक पर निर्भर करता है। विवेक ही यह सकेत करता है कि इस कारण यदि मानना ही हो तो परम आत्मा को मानो और जानना ही है तो अपने स्वरूप को 'स्वय' को जानो। इस संदर्भ में कतिपय अन्य बातें भी ध्यान में रखनी आवश्यक है– प्रथम, हमारे पास आज जितनी वस्तुएँ हैं वे पहले हमारी नहीं थीं, द्वितीय, भविष्य में भी हमारी रहने वाली नहीं है और तृतीय जो सर्वप्रमुख है, यह कि वे हमसे प्रति क्षण अलग हो रही हैं। इसी प्रकार शरीर का भी प्रति क्षण वियोग हो रहा है। आज हमारी जो अवस्था है वह दूसरे क्षण वही नहीं रहेगी। प्रतिक्षण मृत्यु निकटतर आ रही है। गीता में भी कहा गया है, *'अन्तवत इमे देहा·'* अर्थात् ये शरीर अन्त होने वाले हैं। यह भी सत्य है कि उत्पत्ति और विनाश पाने वाली वस्तु ही क्रिया-साध्य होती है जबकि तत्त्व क्रियासाध्य नहीं होता वह तो स्वत· सिद्ध होता है। परन्तु तत्त्व को नहीं मानते, जो आता-जाता है उसे मानते हैं। आवश्यक यह है कि यह माने कि जो नहीं आता-जाता वह असली वस्तु है और जो आता-जाता है वह नकली। जब ऐसा होगा तभी हम स्वामी रामतीर्थ की तरह सोच पायेंगे कि निरादर हो गया तो क्या हो गया, गालियो मिली तो क्या हो गया– किसका निरादर और किसको गाली ? पत्थर का निरादर हो गया तो क्या उसे गाली मिली तो क्या ? जो तत्त्व है, वह तो वैसा ही रहा। हमसे गलती यह हो रही है कि जो विनाशशील है उसे हम मुख्यता दे रहे हैं और जो अनन्त तथा अविनाशी हैं उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। मुख्यता 'स्वय' की रहनी चाहिये। मुक्ति भी 'स्वयं' की होती है शरीर की नहीं। हम शरीर को, व्यक्ति को, नाम को, नश्वर अस्तित्व को प्रमुख मान लेते हैं। इसलिये प्रथम उसके प्रति मोह होता है, तत्पश्चात् उसके पोषण के लिये लोभ होता है, फिर उसके आनन्द के लिये काम का सृजन होता है, यह सब प्राप्त होने पर मद हम पर सवार हो जाता है और उस अह पर किंचित् भी चोट पहुँचने पर क्रोध तुरन्त जन्म ले लेता है। इसलिये प्रभु महावीर ने सत्य को पहिचानने की बात कही। जब यह सत्य मान लिया जायेगा कि शरीर सत्य नहीं है तब उसके पोषण के लिये किसी से कुछ लेना नहीं पड़ेगा, न उसके लिये कुछ एकत्र ही करना पड़ेगा और इस प्रकार अस्तेय और अपरिग्रह की सिद्धि होते ही कामना का सर्वथा नाश हो जायेगा। तब आत्मरमण वाली वह स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जो अखण्ड ब्रह्मचर्यत्व की रक्षा के लिये उपयुक्त होगी। सम्पूर्ण रूप से अकामी व्यक्तित्व न कभी दुर्भावना से ग्रस्त होगा न शोक से। निराकांक्षी व्यक्ति को न मानसिक उद्वेग प्रभावित कर सकते हैं न शारीरिक क्लेश। परिणाम स्वरूप सर्वप्रकार

के हिसाभाव के वह मुक्त रहता है। वीतरागिता की स्थिति है और मन पर सयम का रहस्य भी जिसके सवध में गणधर गौतम स्वामी ने कहा था–

एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण सव्वसत्तु जिणामह॥

अर्थात् एक मन को जीत लेने पर पॉचो इन्द्रियॉ जीती जा सकती हैं और पॉचों इन्द्रियों पर विजय पा लेने के बाद पॉचों प्रमाद और पॉचों अव्रतों पर विजय पाई जा सकती है। इस प्रकार इन्द्रियों और मन को शिक्षित बना लेने पर इन दसों पर विजेता होकर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूॅ। ❑

श्रमण परम्परा के मूर्धन्य पुरुष : तीर्थंकर ऋषभदेव

तीर्थंकर ऋषभदेव श्रमण परपरा के उत्कृष्ट मान्य पुरुष होने के साथ-साथ ब्राह्मण परम्परा के प्रथम पुरुष-अवतार के रूप में मान्य है। श्रमण सस्कृति में उन्हें *आदिनाथ, आदिपुरुष* एव आदि *धर्म चक्रवर्ती* के नाम से भी सबोधित किया गया है।

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे का जब चौरसी लाख पूर्व तीन वर्ष और साढे आठ महीना शेष था तब श्री ऋषभदेव नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से तीन ज्ञान सहित अवतरित हुए। उनके गर्भ-प्रवेश के समय मरुदेवी ने जो चौदह शुभ स्वप्न देखे उनमें प्रथम स्वप्न श्वेत वृषभ का था। उनके जन्म के समय उनके इस भाग पर वृषभ का चिन्ह दीखा था इसलिए माता-पिता ने उनका नाम ऋषभ रखा था।

ऋषभदेव उस सधिकाल में जन्मे थे जब पाषाण युग समाप्त हो गया था जिसमें मनुष्य कल्पवृक्षों से अपने जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करता था अर्थात् वह वृक्षों के फलों से 'उदर' की क्षुधा तृप्त करता था। कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण हो जाने से नई भोग भूमि की सरचना शेष होने के कारण मानव जाति के समक्ष खाद्य-पूर्ति की जटिल समस्या पैदा हो गई थी। साधन के अभाव मे परस्पर सघर्ष होने लगे थे। वृक्षों से आवश्यकता-पूर्ति सभव नहीं रही थी एतदर्थ असन्तोष बढने लगा था। स्वार्थ सघर्ष एव सग्रह की भावनाएँ मनुष्य में अकुरित होने लगी थीं।

युगलिक युग में एक माता की कुक्षि से जन्मे वालक-वालिका की परस्पर शादी हो जाती थी।

इसलिए उन्हे युगलिया कहा जाता था। युगलिया आजीविका सम्बन्धी समाधान हेतु नाभिकुलकर के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी वेदना व्यक्त की। नाभिकुलकर ने कहा कि इस ज्वलन्त समस्या का समाधान तो ऋषभदेव ही कर सकते हैं। युगलिया ऋषभदेव के चरणों में उपस्थित हुए। अपनी समस्या उनके सामने रखते हुए समाधान के लिए निवेदन किया। ऋषभदेव हर कार्य में दक्ष थे। दृढ प्रतिज्ञा वाले थे, सर्वगुणो से युक्त और विनीत थे। उन्होंने विनम्र भाव से युगलियों को समझाते हुए कहा, 'मैं प्रातः पिता श्री को नमन करने आता हूँ। उस समय वहाँ उपस्थित हो जावें ताकि आपकी उपस्थिति मे मैं पिता श्री से आपकी समस्या के समाधान हेतु निवेदन करू।' ऋषभदेव के कथनानुसार युगलिया नाभिकुलकर के पास पहुच गये और अपनी समस्या प्रस्तुत की। नाभिकुलकर ने ऋषभदेव को युगलियों की समस्या का समाधान करने का आदेश दिया। ऋषभदेव ने व्याप्त समस्या का असि, मसि और कृषि आदि कलाओं की जानकारी के साथ समाधान देते हुए प्रेरणा दी कि अकर्म अवस्था को छोडो तथा श्रम करना सीखो। ऋषभ से उद्‌बोधन पाकर मानव जाति ने खेती करना सीखा, कृषि विज्ञान व अस्त्रों का आविष्कार किया साथ ही कपडा बुनना, बर्तन बनाना आदि शिल्पकलाएँ सीखी जिससे नई व विलक्षण सभ्यता का सूत्रपात हुआ।

ऋषभदेव नये समाज की सरचना और उनके भौतिक उत्कर्ष से ही सतुष्ट नहीं हुए। वे जानते थे कि मानव में वस्तुओं के संग्रह की प्रकृति जगी है। उसकी अन्तिम निष्पत्ति विषमता और सघर्ष में अवश्यंभावी है। दीर्घ काल तक सामाजिक व्यवस्थाओं को सुदृढ बनाकर अपने जीवन के अन्तिम काल में वे आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर चल पडे। सामाजिक समृद्धि को आत्मधर्म से ही नियत्रित रखा जा सकता है। आत्म-कल्याण की कला मात्र उपदेश से नहीं सिखाई जा सकती, स्वय के जीवन को आचरण रूप बनाकर ही इस कला का शिक्षण दिया जा सकता है। ऋषभदेव ने भरत को राजगद्दी सौंप कर स्वयं अठ्ठम तप करके चार हजार पुरुषों के साथ दीक्षा ग्रहण की उस दिन चैत्र वदी अष्टमी का पवित्र दिन था जिस दिन राजपाट सर्वस्व त्यागकर सयमी राह पर चल दिये। प्रभु जिन वस्तुओं को त्यागकर ग्राम-नगर में विचरण करने लगे लोग वे ही वस्तुऐं स्वर्ण, हीरा, मोती, हाथी-घोड़े आदि कीमती वस्तुओ का उपहार प्रभु के समक्ष रखने लगे। दान क्या है ? यह उन लोगों की कल्पना से परे बात थी क्योंकि उस समय कोई याचक ही न था। लोग भगवान को अकल्पनीय वस्तुऐं प्रदान करने लगे। प्रभु उन पर नजर डाले बगैर

ही आगे बढ़ते रहे। यह क्रम चलता रहा।

इसी क्रम में वैशाखी सुदी दूज की रात्रि में हस्तिनापुर नगर की तीन पवित्र आत्माओं राजा सोमपुत्र, राजपुत्र श्रेयासकुमार और सुबुद्धि नामक नगर सेठ को अलौकिक स्वप्न दृष्टि हुए। अगले दिन वैशाखी सुदी तृतीया के सुवर्णमय प्रभात में जब तीनों ने अपने-अपने स्वप्न की बात प्रस्तुत की तब सभी एक आवाज में बोले, स्वप्न से सूचित होता है कि आज श्रेयांसकुमार को महान लाभ होगा क्योंकि तीनों स्वप्नों के सूत्रधार रूप श्रेयासकुमार ही है। उसी दिन ऋषभदेव नगर-नगर विचरते हुए हस्तिनापुर में पधारे। नगरजन प्रभु को देखकर हर्षविभोर हो उठे और अपने आगन में पधारने की भावभारी विनती करने लगे। प्रभु मूल्यवान वस्तुओं को देखकर बगैर बोले राजमार्ग की ओर बढ़ रहे थे। सारा नगर महोत्सव के वातावरण से खिल उठा क्योंकि आदिनाथ दादा पधारे थे। यह बात राजभवन में पहुँची तो सोमपुत्र राजा, श्रेयासकुमार एवं नगर सेठ दौड़ते हुए भगवान के पास पहुँचे। श्रेयांसकुमार प्रभु को देखकर अलौकिक दुनिया में खो गये, विचार करने लगे, 'यह वेश पहले भी कभी देखा है।' इस विचार में मग्न श्रेयासकुमार भूतकाल की दुनिया में खो गये। कुछ ही क्षणों में विस्मृति का दरवाजा खुला और पूर्वजन्म की स्मृति करवाता हुआ जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ। इस ज्ञान से उन्होंने जाना कि 'दीक्षा लेने के पश्चात् प्रभु को आज तक आहार प्राप्त नहीं हुआ है। एक वर्ष चालीस दिन का दीर्घ उपवास हो गया है। साथ ही जाति स्मरण ज्ञान से वे सुपात्रदान की विधि के ज्ञाता भी हो गये। श्रेयासकुमार ने उसी समय निर्णय लिया कि प्रभु को पारणा करवाने का लाभ अवश्य लेना है। यह सोच कर वे महल पहुचे।

अक्षय तृतीया का पवित्र दिन था। परम्परा के अनुसार उस दिन किसान अपनी खेती का प्रथम खाद्य राजा को भेंट स्वरूप देते थे। उसी समय किसान गन्ने के ताजे रस से भरे घडे लेकर आये। यह देखकर श्रेयासकुमार का मनमयूर नाच नाच उठा। गन्ने का रस निर्दोष है । प्रभु को वहराया जा सकता है। वे इसी भावना के साथ प्रभु के समक्ष उपस्थित हुए एव अपने आगन में पधारने के लिए विनम्र भाव से आग्रह करने लगे। प्रभु से विनती करते हुए कहा, 'गन्ने के रस से भरे कुंभ का उपहार मुझे प्राप्त हुआ है जो निर्दोष है। इस शुद्ध आहार को स्वीकार कर मुझे पावन कीजिये।' श्रेयासकुमार ने गन्ने के मधुर रस से प्रभु को अक्षय तृतीया के दिन पारणा करवाया था। इसलिए अक्षय तृतीया जैन परम्परा का एक मुख्य पर्व बन गया है। □

अद्भुत संयम-साधक : भगवान महावीर

भगवान महावीर का जन्मोत्सव चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उनके उपासक हर्षोल्लास के साथ मनाते हुए अपने श्रद्धा सुमन आराध्य देव के चरणों में अर्पित करते हैं। जैसे बीजारोपण के पश्चात मिट्टी, पानी, वायु, प्रकाश आदि प्राप्त कर वृक्ष अपने पत्तों, पुष्पों और फलों से समन्वित होकर जन-जन के मन को आकर्षित कर पाता है, वैसे ही विश्व को जीवनदान, अभयदान और आनन्द प्रदान करने वाली भारतीय सस्कृति को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने वालों में जिन महामनीषियों का योगदान है उनमें 'भगवान महावीर' अन्यतम हैं।

ऐसे महामनीषी की जयन्ती औपचारिक रूप में मनाना कोई सार्थकता नहीं रखती। क्या हमने कभी सोचा है कि यह जयन्ती हम वर्षों से मनाते आ रहे हैं तथापि इससे पाया क्या है ? वास्तव में तो जिसकी जयन्ती हम मनाते हैं, उसके जीवन के मूल स्वरूप को जान लेना आवश्यक है क्योंकि इसके पश्चात् ही उसकी जीवनचर्या का अनुसरण सरल व सार्थक होता है।

भगवान महावीर के जन्म का नाम वर्धमान था। त्यागी जीवन में उत्कृष्ट तप के कारण वे महावीर नाम से प्रसिद्ध हुए और उपदेशक जीवन में श्रमण भगवान कहलाये।

उनके माता-पिता पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के अनुयायी थे। यह परम्परा निर्ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध थी एवं साधारण तौर पर इस परम्परा में त्याग और तप की भावना प्रबल थी। भगवान का अपने कुलधर्म के परिचय में आना तथा उस धर्म के आदर्शों का उनके सुसस्कृत मन को प्रभावित करना सर्वया सभव था। ऐसा हुआ। तीस वर्ष के तरुण क्षत्रिय-पुत्र वर्धमान ने जब गृहत्याग किया जब उसके

अन्तर और बाह्य दोनों जीवन एक दम बदल चुके थे। सुकुमार राजपुत्र ने अपने हाथों केश का लुंचन किया,सम्पूर्ण वैभव को छोड़कर एकाकी जीवन और लघुता स्वीकार की और आजीवन समभाव से रहने का नियम अगीकार किया।

भगवान महावीर को जिस तत्त्व की साधना करनी थी उस साधना के लिए उन्होंने अहिंसा तत्त्व की प्रधानता दी तथा सयम और तप के दो साधन पसद किये। यह आवश्यक भी था क्योंकि सयम और तप के बिना समभाव की सिद्धि नहीं हो सकती।

इस ससार में प्राय. जो बलवान होता है, वह निर्बल के सुख और साधन छीन लेता है। यह अपहरण की वृत्ति अपने माने हुए सुख के राग से, विशेष रूप से कायिक सुख कामना से पैदा होती है। यह वृत्ति ही ऐसी है जिससे शान्ति और समभाव का वायुमण्डल प्रदूषित हुए बिना नहीं रहता। सुख के राग, रसिक बलवान निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देकर उसके द्वारा अपने परलोक का उत्कृष्ट मार्ग सिद्ध करते हैं। इस प्रकार सुख की मिथ्या धारणा और वृत्ति के सकोच के कारण ही व्यक्तियों और समूहों के बीच अन्तर बढ़ता है, शत्रुता की नींव पडती है और फलस्वरूप वर्ग-सघर्ष की भीषण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हिंसा और प्रतिहिंसा का एक ऐसा दौर प्रारम्भ हो जाता है जो ससार के सुख को नरक बना देता है। हिंसा के इस भयानक स्वरूप पर विचार करके ही भगवान महावीर ने अहिंसा तत्त्व में ही समस्त धर्मों का, समस्त कर्त्तव्यों, का प्राणिमात्र की शान्ति का मूल देखा। उन्हें स्पष्ट रूप में दिखायी दिया कि यदि अहिसा तत्त्व सिद्ध किया जा सके तो जगत् में सच्ची शान्ति फैलायी जा सकती है। यह विचार कर उन्होंने कायिक सुख की प्रवंचा को रोकने के लिए तप प्रारम्भ किया और अधैर्य जैसे मानसिक दोष से होने वाली हिंसा को रोकने के लिए संयम का मार्ग चुना।

सयम का सबंध मुख्यत: मन और वचन के साथ होने के कारण उसमें ध्यान और मौन का समावेश होता है। महावीर के सम्पूर्ण साधक जीवन में इसीलिए संयम और तप की महिमा रही। परन्तु कितने ही लोग महावीर के तप को देह-दुःख और देह-दमन कहकर इस महिमा की अवहेलना करते हैं। भगवान महावीर का तप शुष्क देह-दमन नहीं था– वह संयम और तप दोनों का समन्वित रूप था। इस कारण ज्यों-ज्यों सयम और तप की उत्कृष्टता से महावीर अहिसा तत्त्व के निकट पहुंचते गये त्यों-त्यों उनकी आत्मिक शान्ति का रूप निखरता गया। मानव मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति की आंतरिक आत्म शक्ति का प्रभाव आस-पास के लोगों पर जाने-अनजाने में पड़े विना नहीं रहता।

श्रमण भगवान महावीर का 43 से 72 वर्ष का दीर्घ जीवन सार्वजनिक सेवा

में व्यतीत होता है। उनके द्वारा सार्वजनिक सेवा के महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये, यथा–

–जाति पाति का तनिक भी भेद रखे बिना शूद्रों के लिए भी भिक्षु-पद और गुरु-पद का रास्ता खुला करना। श्रेष्ठता का आधार जन्म नहीं बल्कि गुण और इन गुणों में भी पवित्र जीवन की महत्ता स्थापित करना।

–पुरुषो की तरह स्त्रियो के विकास के लिए भी पूरी स्वतन्त्रता और विद्या तथा आचार दोनों मे स्त्रियों की पूर्ण योग्यता को मानना। उनके लिए गुरु-पद का आध्यात्मिक मार्ग खोल देना।

– लोक भाषा में तत्त्व ज्ञान और आचार का उपदेश करके ज्ञान-प्राप्ति में भाषा का अन्तराल दूर करना।

–यज्ञ आदि कर्मकाण्डों की अपेक्षा सयम तथा तपस्या के स्वावलबी तथा पुरुषार्थ-प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित करना और अहिंसा धर्म में प्रीति उत्पन्न करना।

–त्याग और तपस्या के नाम पर तथा रूढ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्त्व का वायुमंडल चारों और उत्पन्न करना।

श्रमण भगवान से पूर्व से ही जैन सम्प्रदाय चला आ रहा था जो निर्ग्रन्थ के नाम से विशेष प्रसिद्ध था। उस समय प्रधान निर्ग्रन्थ केशीकुमार आदि थे। वे सब अपने को ही पार्श्वनाथ की परम्परा का अनुयायी मानते थे। वे कपड़े पहिनते थे और वे भी तरह-तरह के रंग के। इस प्रकार का चातुर्याम धर्म 'अर्थात् अहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह महाव्रतो' का पालन करते थे। श्रमण भगवान ने इस परम्परा के विरुद्ध अपने व्यवहार से दो बातें नई प्रचलित की– एक अचेल धर्म, दूसरी ब्रह्मचर्य। पहिले की परम्परा मे वस्त्र और स्त्री के सबध मे अवश्य शिथिलता आ गयी होगी और उसे दूर करने के लिए अचेल धर्म और स्त्री विरमन को निर्ग्रन्थित्व में स्थान दिया गया। अपरिग्रह व्रत से स्त्री-विरमण को अलग करके चार के बदले पाच महाव्रतों के पालन का नियम बनाया।

श्रमण भगवान के समग्र जीवन और उपदेश का सक्षिप्त रहस्य दो बातों में आ जाता है–आचार में पूर्ण अहिंसा और तत्त्वज्ञान में अनेकान्त।

महावीर जयन्ती के इस पुनीत पर्व पर उनके उपदेशों को जीवन के सदर्भ में देखने का प्रयास करें और उन पर आचरण करें यही उनके प्रति सच्ची प्रणामाजलि होगी। 

व्यसन-मुक्ति : संस्कार-क्रान्ति का आधार

इस महान् सृष्टि में मानव को सर्व-श्रेष्ठ प्राणी माना गया है। क्या कभी आपने गहराई से चिन्तन किया है कि–श्रेष्ठता का क्या अर्थ है ?

अन्य प्राण-धारियों की अपेक्षा मनुष्य को इसलिए विधना की अनुपम कृति अथवा अनूठी रचना माना गया है क्योंकि उसे गतिशील होने और कर्म करने के लिए स्वतंत्र रूप से पाव-और हाथ मिले हैं.. साथ ही मन और बुद्धि के साथ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में एक दूसरे के साथ त्वरित-गति से सामजस्य कर सकने की अनुपम सामर्थ्य भी उसे प्राप्त हुई है, जो अन्य प्राणधारियों को प्राप्त नहीं है। इसलिए मानव को श्रेष्ठ माना है, साथ ही इस भव को अतीव दुर्लभ भी कहा है। इसमें कोई सन्देह भी नहीं है लेकिन धर्मशास्त्रकारों का आशय इसके पीछे कुछ और ही है। वे दुर्लभता का भार मनुष्य शरीर पर न डालकर मनुष्यत्व पर डालते हैं। वस्तुतः ठीक भी है। मनुष्य शरीर प्राप्त कर लेने से भी कुछ नहीं हो जाता। यह चोला तो मानव ने कई वार पहना होगा। मनुष्य जाति में चोर, डाकू, लुटेरे, कसाई, हत्यारे और वेश्याएं भी हैं– इन्हें क्या कहेंगे ? मनुष्य शरीर पाने के बाद भी यदि मनुष्यता न प्राप्त की गई तो मनुष्य जन्म बेकार है। वकील, वैरिस्टर, डाक्टर, जज आदि बनने के लिये कठिन से कठिन परीक्षाओं में हजारों-लाखों व्यक्ति उत्तीर्ण होते हैं परन्तु मनुष्यत्व की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले कितने होते हैं ?

जैन धर्म मनुष्य शरीर की महिमा नहीं गाता, वह महिमा गाता है मनुष्यत्व की। भगवान महावीर ने कहा–'मनुष्यों ! मनुष्य होना बड़ा कठिन है।' भगवान के

कहने का आशय यही है कि मनुष्य का शरीर तो कठिन नहीं, वह तो अनन्तबार मिला और मिल जायेगा, परन्तु आत्मा में मनुष्यता का प्राप्त होना ही दुर्लभ है।

भौतिक लिप्साओं और कामनाओं की पूर्ति हेतु मनुष्य कुछ भी अवाच्छित करने को तत्पर हो जाता है। आज चारित्रिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा मानवीय दायित्व की दृष्टि से मनुष्य अत्यत शोचनीय स्थिति में पहुंच गया है। दैनन्दिन व्यवहार में सचाई, प्रामाणिकता, करुणा, सेवा एव सौजन्य का लोप होता जा रहा है। सर्वत्र हिसा, उग्रता, असहिष्णुता तथा सदान्धता का भीषण दावानल सुलग रहा है। कहीं भी शान्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। स्वार्थ, आपाधापी एव प्रवचना से जन-मानस अभिशप्त है। जिस आर्य धरा की सस्कृति हिमालय की चोटी के तुल्य मानी जाती है, वहाँ हिसा की भयानक आग तथा भोग मनुष्य के विवेक को अधकार में धकेल रहे हैं, यह सब विकृतियों का मायाजाल है जिसका मुख्य कारण कुव्यसन हैं।

शराब, भंग, तम्बाकू, अफीम, जुआ और वेश्यागमन जैसे कुव्यसनों से तो समाज पूर्व में भी ग्रस्त रहा था किन्तु तब इनके प्रयोग और प्रभाव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। आज की भौतिकवादी सभ्यता ने इन कुव्यसनों को व्यापकता ही नहीं दी है इन्हें नये और अनोखे आयाम भी प्रदान किये हैं जिनके नित नये नाम सुनने में आते हैं– हेरोईन, ब्राऊन शूगर, स्मैक आदि। ये सब नई सभ्यता के चिन्तनीय पक्ष बनकर उभरे हैं। इनका प्रचलन कल्पनातीत हो चुका है ऐसा सुना जा रहा है। इस 'नव-विकास' से मनुष्य और समाज का स्वास्थय चौपट हो रहा है। राष्ट्र के हित-चिन्तकों को भी भय होने लगा है कि कहीं आगामी पीढिया शारीरिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से टूटी हुई, भीषण व्याधियों से ग्रस्त अथवा पंगु उत्पन्न न हो।

इस युग में मनुष्य धर्म और कर्म से भी ज्यादा सम्पत्ति और सत्ता से प्रभावित है। मनुष्य ने धन और यश को जीवन में प्रधानता दी है। इनकी प्रतिस्पर्धा में दिन-रात दौड़ता रहता है। इस दौड़ में कोई पीछे रहना नहीं चाहता। अपने स्वास्थ्य की चिन्ता करने वाले मनुष्य बहुत कम मिलेंगे जबकि धन और सत्ता की महत्ता शरीर के स्वास्थ्य होने पर निर्भर है। शरीर के विषय में कभी चिंतन ही नहीं किया कि इसका मूल्य क्या है ? मानव के लिए सबसे मूल्यवान वस्तु उसका शरीर है लेकिन इसका मूल्यांकन न करने की वजह से इसकी सुरक्षा, सतर्कता से नहीं की जा रही है। मनुष्य के दुखों का मुख्य कारण–बीमारी, गरीबी, कलह और अप्रतिष्ठा आदि में देखने को मिलता है

जिनका मुख्य कारण कुव्यसन हैं।

शराब, तम्बाकू और गुटखा का स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पडता है। इनके सेवन से फेंफडे, गुर्दे, लीवर आदि प्रभावित होते हैं जो धीरे-धीरे क्षीण होकर अनेक बीमारियों को जन्म देते हैं। वैज्ञानिक शोधों ने उच्च रक्तचाप और मधुमेह जैसे रोगों के लिए भी इन नशीली वस्तुओं को जुम्मेदार ठहराया है।

मनुष्य दिन भर कड़ी धूप में खून का पसीना बहा करके की गई कमाई शराब, तम्बाकू और गुटखों में व्यय कर देता है। व्यसनी बाप के बेटे जिस उम्र में पढ़ना-लिखना चाहिए, उस उम्र में घर-घर काम करते दिखाई देते हैं, होटलो, दुकानों पर मजदूरी करते हैं और यदि काम नहीं मिलता तो छुप कर भीख माग लेते हैं अथवा चोरी जैसे कुकर्म भी कर डालते हैं। मनुष्य की आय का एक भाग इन व्यसनों की पूर्ति में ही व्यय हो जाता है।

जिस घर में बीमारी होगी, भूख होगी, वहा कलह तो होनी ही है। कहावत है–अभाव में स्वभाव नष्ट हो जाता है। नशे की तलब पूरी करने के लिए घर के वर्तन, जेवर भी बेच दिये जाते हैं। ऐसी स्थिति में घर की शान्ति कैसे कायम रह सकती है?

नशा सब अपराधों की जड़ है। एक शराबी कौन सा अपराध नहीं कर सकता ? लूट, हत्या, व्यभिचार, बलात्कार आदि जितनी भी अमानवीय प्रवृत्तियाँ हैं ये सब नशा किये बगैर संभवतः हो ही नहीं सकती क्योंकि यह मनुष्य का विभाव है, स्वभाव नहीं। स्वभाव में रहकर अनर्थकारी कोई भी कार्य नहीं कर सकता। उसकी आत्मा घृणित कार्य करने की इजाजत ही नहीं देगी। नशा करने के बाद विवेक-वृद्धि क्षीण हो जाती है फिर क्रूर से क्रूर सामाजिक अपराध भी किये जा सकते हैं। ऐसे अपराध करने वाले मनुष्य की समाज में प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ?

समाज में प्रतिष्ठा किन लोगों की होती है ? पैसे वालों की ? पद वालों की ? या भुजवल रखने वालों की ? सत्य तो यह है कि पैसा, पद और भुजवल किसी ऊँचे उद्देश्य की सिद्धि के साधन होते है । जिस पैसे से किसी दुःखी का दु.ख नहीं दूर किया गया, जिस पद पर बैठकर न्याय नहीं किया गया, जिस बाहुबल से दुर्बल के प्रति किये जाने वाले अन्याय का विरोध नहीं किया गया, उस पैसे, पद और बाहुबल का होना व्यर्थ है। अपने देश में तो दानवीरों, धर्मवीरों और रणवीरों की समृद्ध परम्परा रही है। समाज ऐसे ही लोगों के गुण गाता है और मानव पीढ़ियाँ

उन्हें ही याद रखती हैं जो अपनी क्षमताओं का उपयोग जनहित के लिए करते हैं। परन्तु व्यसनों के चक्कर में पड़ा हुआ व्यक्ति लोभी, स्वार्थी, दुश्चरित्र और कायर बन जाता है। व्यसनों की तलब पूरी करने के लिये वह जघन्यतम पाप करने में भी नहीं हिचकता। परिणाम यह होता है कि समाज का सुख, शान्ति व्यवस्था और प्रगति प्रभावित हो जाती है।

व्यसनों के सबध मे सबसे बड़ी बात यह है कि वे जब तक उत्पन्न न हों तभी तक भलाई है क्योंकि एक व्यसन ही अपने पीछे व्यसनों की फौज घसीट लाता है। यही वह स्थान है जहाँ सुसस्कारों का महत्त्व समझ में आता है क्योंकि सुसंस्कृत समाज में व्यसन उत्पन्न होने के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं बनती तभी तो कहते हैं ' सोने में जग नहीं लगती।' यह सस्कारो की ही बात है कि चकवा भले ही प्यासा मर जाय स्वाति नक्षत्र की वर्षा के जल के अतिरिक्त और कोई जल नहीं पीता। तुलसी ने 'चातक चौतीसी' लिखकर अनन्य प्रेम के रूप में सस्कारों की महिमा का ही गुणगान किया था।

मानव जीवन सुसस्कारों को महत्त्व देने के कारण ही अन्य प्राणियों के जीवन से विशिष्ट है। सुसस्कार इस प्रकार एक सामाजिक प्रवृत्ति हैं जिन्हे फलने-फूलने के लिये सामाजिक वातावरण चाहिये। किसी एक या दो के सुसस्कारित हो जाने से सम्पूर्ण समाज सुसंस्कारित नहीं हो सकता। निश्चय ही ऐसे एक-दो लोग प्रेरणा प्रदान कर सुसस्कारों के निर्माण हेतु प्रकाश-स्तभ का कार्य करते हैं परन्तु व्यापक सस्कार क्रान्ति के लिये समाज का वातावरण बदल जाना आवश्यक है जिससे *समता समाज* की रचना हो सके। अच्छी आदतें, अपने से बड़ों का सम्मान, धर्म, सिद्ध-पुरुषों और सतों मे आस्था, सुरुचिपूर्ण साहित्य का अध्ययन, सात्विक खान-पान एव जीवनचर्या, सुसस्कारों के निर्माण में निश्चय ही सहयोगी बनती है। इस दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि विपरीत मानसिकता के विरोध का वातावरण उत्पन्न किया जाये, कुव्यसनों एवं कुसस्कारों के प्रति घृणा भाव जागृत किया जाये तथा अपनी प्रवृत्तियों को नियत्रण में रखने के प्रयास किये जायें। घृणा अनेक स्थितियों मे प्रेम से अधिक प्रभावी एव शक्तिशाली सिद्ध होती है और इस प्रकार बुराई एव कुसस्कारों के विनाश मे अधिक कारगर बन सकती है। वैसे भी किसी प्रवृत्ति के प्रति घृणा भाव उसे रोकने एवं नियत्रित करने में सहायक होता है। दृढ मनोबल, सद्वृत्तियों में आस्था तथा दुष्वृत्तियों से घृणा, सुसस्कार निर्माण की सुदृढ आधार-भूमि बन सकते हैं। मनुष्य से यह अपेक्षित भी है कि वह प्रकृति विशेष शक्तियों एवं क्षमताओं का उपयोग सुसस्कारों के निर्माण हेतु शाति, सुरक्षा और विकास का एकमात्र मार्ग है।